आर्यसमाज की मान्यताएँ

[एक सरल परिचय]

पूज्य पिता स्व० श्री लालमनजी आर्य की

७८वीं जयन्ती पर प्रकाशित तृतीय संस्करण

गजानन्द आर्य

मन्त्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर

विचार प्रकाशन

१९, बालीगञ्ज सर्कुलर रोड, कलकत्ता

प्रकाशक

विचार प्रकाशन

१९, बालीगञ्ज सर्कुलर रोड

कलकत्ता–१९

तृतीय संस्करण : एप्रिल १९८९

चैत्र २०४६ वि.

मूल्य—६ रुपये

मुद्रक : सतीशचन्द्र शुक्ल

वैदिक यन्त्रालय, केसरगञ्ज, अजमेर–३०५००१

प्रकाशक की ओर से

बहुधा आर्यसमाज के प्रति अपने ही लोगों के मन में एक भ्रान्ति रहती है कि आर्यसमाजी कुछ नहीं मानते। यह भ्रान्ति उनकी आर्यसमाज की मान्यताओं के प्रति अनभिज्ञता के कारण होती है। आर्यसमाज प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसकर विवेकपूर्ण ढंग से मानता है। वह न अन्धी परम्परा का समर्थक है, न लकीर का फकीर बनने में विश्वास रखता है और न ही आधुनिक चकाचौंध में बहता है। सभी बातें सत्य और असत्य को विचार कर करना ही आर्यसमाज का ध्येय और उद्देश्य है। आर्यसमाज सब अच्छाइयों को मानता और स्वीकार करता है। वह रूढ़िवाद व दकियानूसी विचारधाराओं का परित्याग कर संकीर्णता का प्रबल विरोधी रहा है। आर्यसमाज की मान्यताएँ पवित्र वेदों पर आधारित होने से सनातन और शाश्वत हैं, साथ ही देश-काल-परिस्थितियों के अनुसार आर्यसमाज सामयिक सुधारों को भी महत्त्व देता है।

आर्यसमाज के प्रथम परिचय के रूप में यह पुस्तिका आपके सम्मुख प्रस्तुत है, जिसमें आर्यसमाज की मुख्य-मुख्य मान्यताओं से संक्षेप में परिचित कराया गया है। अपने प्रियजनों के मन में जो भ्रान्तियां हैं, उनके निवारण करने में यह परिचय-पुस्तिका यदि कुछ भी सहायक बनी तो अपने इस प्रयास को सफल समझेंगे।

एप्रिल, १९८६ —सत्यानन्द आर्य

प्रकाशकीय : तृतीय संस्करण

इसे 'विचार-प्रकाशन' का सौभाग्य मानें या आर्यसमाज की तार्किक मान्यताओं का असर या फिर लेखक की सरल और सीधी पारिभाषिक शैली का प्रभाव कि श्री गजानन्द आर्य द्वारा लिखित इस पुस्तक 'आर्यसमाज की मान्यताएँ' का सुधी वर्ग द्वारा हार्दिक स्वागत किया गया। उल्लेखनीय है कि पुस्तक आर्यसमाजी दायरों में ही नहीं बल्कि पौराणिक और अन्य मतावलम्बियों द्वारा भी पढ़ी गयी। लेखक को हमारी कोटिश: बधाई।

पुस्तक का तीसरा संस्करण प्रस्तुत है। अनेक विद्वानों ने यदा-कदा अपने विचारों से हमें प्रथम संस्करण की खामियों तथा और भी अधिक विस्तृत विषयों पर प्रकाश डालने के सुझावों से अवगत किया। विशेष रूप से आचार्य प्रेमभिक्षुजी, मथुरा से मिले मार्गदर्शन का जो लाभ हमें तथा पुस्तक के पाठकों को मिल पाया है, उसके लिये हम आदरणीय प्रेमभिक्षुजी के हृदय से आभारी हैं।

अपने सुधी पाठकों को अपनी प्रकाशन संस्था की ओर से इस तृतीय संस्करण को समर्पित करते हैं, इस आशा के साथ कि हमें उनका निरन्तर सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहेगा।

एप्रिल, १९८९

—सत्यानन्द आर्य

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
१.	आर्य	१	२२.	यज्ञ में स्त्री का स्थान	३४
२.	आचार-विचार	१	२३.	अग्निहोत्र अर्थात् हवन	३५
३.	ईश्वर	२	२४.	यज्ञोपवीत	३६
४.	ईश्वर सगुण और निर्गुण भी	४	२५.	सन्ध्या	३८
५.	ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता	५	२६.	संस्कार	३९
	स्तुति, प्रार्थना, उपासना	६	२७.	योगविद्या	४०
६.	देवता	७	२८.	नामस्मरण	४२
७.	ब्रह्मा-विष्णु-महादेव आदि	९	२९.	आर्यसमाज कोई सम्प्रदाय नहीं है	४३
८.	गणेशजी	१०	३०.	सनातन धर्म	४४
९.	राम और कृष्ण	११	३१.	भारत के मूलनिवासी आर्य	४७
१०.	नवग्रह पूजा	१३	३२.	अछूत	४९
११.	गुरुडम	१४	३३.	विधवाविवाह	५४
१२.	सतीप्रथा	१५	३४.	अन्तर्जातीय विवाह	५६
१३.	ज्योतिष	१७	३५.	टीका दहेज	५८
१४.	संस्कृत भाषा	१८	३६.	शास्त्रार्थ : शङ्का-समाधान	६०
१५.	वेद	२१	३७.	खण्डन-मण्डन	६१
१६.	छः शास्त्रों में विरोध नहीं	२५	३८.	मूर्तिपूजा	६४
१७.	भगवद्गीता	२६	३९.	स्वामी दयानन्द का चित्र	६५
१८.	रामायण महाभारत	२७	४०.	मानो तो देव नहीं तो पत्थर	६७
१९.	पुराण ग्रन्थ	२८	४१.	चमत्कार	६८
२०.	स्वाध्याय-सत्सङ्ग	२९	४२.	गायत्री मन्त्र (गुरुमन्त्र)	६८
२१.	यज्ञ व मनुष्यों के पांच कर्त्तव्य	३२	४३.	गङ्गा	७०

क्रम	विषय	पृष्ठ	क्रम	विषय	पृष्ठ
४४.	गाय	७१	५७.	सूर्यग्रहण-चन्द्रग्रहण	८५
४५.	जीव	७३	५८.	सृष्टि और युग	८७
४६.	पूर्वजन्म और पुनर्जन्म	७४	५९.	स्वर्ग-नरक	८७
४७.	प्रारब्ध	७६	६०.	वर्ण-व्यवस्था	८७
४८.	जन्म-पत्रिका	७६	६१.	आश्रम-व्यवस्था	८८
४९.	मुक्ति से पुनरावृति	७८	६२.	त्यौहार	९५
५०.	भूत-प्रेत	७९	६३.	खान पान	९५
५१.	शुभ-अशुभ	८०	६४.	शुद्धि	९९
५२.	पितरों का श्राद्ध—तर्पण	८१	६५.	अन्त्येष्टि	१००
५३.	तीर्थ व्रत	८२	६६.	आर्यसमाजी को नहीं आर्यसमाज को समझिये	१०१
५४.	मुहूर्त्त	८३	६७.	नमस्ते	१०३
५५.	त्रैतवाद	८४	६८.	आर्यसमाज के नियम	१०८
५६.	विज्ञान	८५			

आर्य

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द की परिभाषा में श्रेष्ठ पुरुषों का नाम 'आर्य' है। प्रत्येक आर्यसमाजी अपने को आर्य कहने और कहलवाने में गौरव अनुभव करता है। आर्य शब्द पर आर्यसमाज का एकाधिकार नहीं है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यावर्त के समस्त निवासियों को 'आर्य' नाम से सम्बोधित किया है। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास का आरम्भ करते हुए ऋषि लिखते हैं, "अब आर्य्य लोगों के कि जो आर्य्यावर्त देश में बसनेवाले हैं, उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करेंगे।"

उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि उन सब मत-मतान्तरों का जिनका वर्णन ग्यारहवें समुल्लास में किया गया है वे सब 'आर्य' सम्बोधन के अन्तर्गत आते हैं। ऋषि ने हिन्दी-भाषा को आर्य-भाषा के नाम से जाना और माना है। अत एव आर्यसमाज चाहता है कि प्रत्येक हिन्दू अपने को आर्य जाने। 'आर्यावर्त हमारे देश का पुराना नाम है। इस देश के निवासी 'आर्य' कहलाते हैं। इतने पर भी आर्य शब्द किसी देश, जाति, नस्ल की सीमाओं में नहीं बँधा है। संसार का प्रत्येक श्रेष्ठ पुरुष 'आर्य' कहलाने का अधिकारी है। □

आचार-विचार

सारे धर्म-कर्म एक तरफ और आचार-व्यवहार दूसरी ओर। अतः आर्यसमाज आचार-विचार की श्रेष्ठता को प्रथम स्थान देता

है। आर्यसमाज के सभासद् बनने अथवा आर्यसमाज के अधिकारी बनाने में आचार-विचार भी देखे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप—

- ☐ अनैतिक धन्धों में नहीं होना चाहिए।
- ☐ मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करता हो।
- ☐ एक पत्नीव्रत/पतिव्रत का पालक हो।
- ☐ मांसाहारी नहीं हो। ☐

ईश्वर

आर्यसमाज के दस नियमों में प्रथम नियम ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने का है, जो इस प्रकार है—"सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।" आर्यसमाज की मान्यता है कि जब जीव किसी काम करने में प्रवृत्त होता है तब आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा अनुभव करता है और अच्छे कामों के करने में निर्भयता निःशंकता और आनन्दोत्साह उत्पन्न होता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं परमात्मा की ओर से है। *

ईश्वर की सिद्धि में आर्यसमाज का तर्क है कि जब कोई किसी पदार्थ को देखता है ता दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है—एक जैसा वह पदार्थ है और दूसरा उसकी रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान। सृष्टि में नाना प्रकार की रचनायें बनानेवाले उस परमेश्वर को सिद्ध करती हैं। प्राणियों के शरीरों की ज्ञानपूर्वक रचना; नाना प्रकार के रत्न, धातु से जड़ित भूमि;

* द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश समु. ७-९ तथा १० ॥

विविध प्रकार के वृक्षों के बीजों में अति सूक्ष्म रचना; असंख्य प्रकार के पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द, मूल आदि का निर्माण और अनेकानेक करोड़ों भूगोल, सूर्य, चन्द्रादि लोकों का निर्माण, उनका धारण, भ्रामण और नियमों में रखने की प्रक्रिया आदि का परमेश्वर ही कारण है।[1]

आर्यसमाज का विश्वास है कि जैसे कान से रूप का, आंखों से शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता वैसे अनादि परमात्मा को देखना शुद्ध अन्तःकरण, विद्या और योगाभ्यास के अभाव में असम्भव है।[2] जिस प्रकार बिना पढ़े विद्या के प्रयोजन प्राप्त नहीं होते उसी प्रकार योगाभ्यास और विज्ञान के बिना परमात्मा भी नहीं दीख सकता।

आर्यसमाज की यह घोषणा है कि इसी एक परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना और इससे भिन्न और किसी को उपास्य इष्टदेव, उसके तुल्य व उससे अधिक नहीं मानना चाहिए।

इसीलिए आर्यसमाज ने आर्यों की दैनिक चर्या में 'ब्रह्मयज्ञ' को आवश्यक महत्त्व देकर प्रतिदिन संध्या और स्वाध्याय के द्वारा अपने परमपिता परमेश्वर को स्मरण करने का विधान रखा है।

ईश्वर के स्थान पर किन्हीं काल्पनिक भगवानों में भ्रमित न हो जाने के लिए आर्यसमाज ने अपने दूसरे नियम में ईश्वर की संक्षिप्त परिभाषा देकर एक अद्भुत कसौटी दी है, जो इस प्रकार है—'ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्,

---

१. द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश समु. ८ ॥
२. द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश समु. ८ तथा ११ ॥

न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।"

जैसे परमात्मा के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे परमात्मा के अनन्त नाम भी हैं। परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं है। कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक उस जगदीश्वर के नाम हैं, किन्तु परमात्मा का मुख्य नाम 'ओ३म्' है। □

ईश्वर सगुण भी और निर्गुण भी

ईश्वर ही क्यों मानव भी सगुण और निर्गुण होते हैं। जो जो अच्छे गुणों से युक्त हैं, वह उनकी सगुणता और बुरे गुणों से रहित हैं वही उनकी निर्गुणता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सगुणता और निर्गुणता का भेद बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप आर्यसमाज के दूसरे नियम में ईश्वर के जितने गुण बताए गये हैं, उसमें सगुण हैं—सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता और निर्गुणता है—निराकार, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, अजर, अमर और अभय।

ध्यान रहे ईश्वर सगुण भी है और निर्गुण भी, किन्तु भ्रान्तिवश निर्गुण के लिए 'निराकार' और सगुण के लिए

'साकार' शब्द का प्रयोग करके ईश्वर को निराकार भी एवं साकार भी है ऐसा कहना दोषयुक्त और सत्यविरुद्ध है। यहां हमें समझना है कि ईश्वर निराकार ही है। □

ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता

आर्यसमाज का यह पक्ष बहुतों के गले नहीं उतरता कि ईश्वर किये हुए पापों को क्षमा नहीं करता। ईश्वर जब दयालु है तब दयालु प्रभु दया न करें यह कहाँ तक उचित है? भक्त लोग जब अपना जीवन भगवत् पूजा में लगाते हैं, तब क्या ईश्वर उनकी नहीं सुनता? जब ईश्वर इतनी मेहरबानी भी नहीं करता तब उसको मानने से क्या लाभ? इस प्रकार की शंकाओं पर आर्यसमाज का उत्तर है—

—ईश्वर दयालु है और न्यायकारी भी। न्यायकारी होने के नाते किसी अपराधी को छोड़ देना भी बाकी प्रजा के लिए एवं स्वयं जीव के भविष्य के लिए अहितकर व अन्याय है। एक अपराधी को छोड़ने से बहुत से जीवों को उनके कारण जो कष्ट हुआ और होगा उसका प्रभाव 'न्यायकारी' शब्द को व्यर्थ कर देता है। दयालु प्रभु सब जीवों को कितना कुछ प्रदान करता है, यह उसकी दयालुता है। दुष्टकर्मों का दण्ड देकर अपराधी पर भी ईश्वर की दयालुता है जिससे उस जीव का भविष्य अच्छा बन सकता है।

—ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना। ईश्वर की भक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं कि उस भक्ति से ईश्वर की खुशामद होती

है। निर्विकार प्रभु को किसी से कुछ ग्राकाङ्क्षा नहीं है। जब ग्रपने सुधार के लिये प्रभु की "स्तुति, प्रार्थना, उपासना" की जाती है, तब इन सबका लाभ निम्नानुसार है—

स्तुति—ईश्वर के गुणों की प्रशंसा करना 'स्तुति' है। प्रशंसा करना तब लाभकारी होता है जब उन प्रशंसाग्रों में वर्णित गुणों को ग्रपने ग्राचरण में लाने की चेष्टा की जाय।

ईश्वर की प्रशंसा करना ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन है। ईश्वर के गुणों को याद न करना कृतघ्नता है।

प्रार्थना—ग्रपने पूरे सामर्थ्य से पुरुषार्थ करते हुए ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करना ही 'प्रार्थना' है। निठल्ले बैठकर प्रभु से प्रार्थना या याचना करना बेकार है। प्रभु-प्रार्थना से मन में घमण्ड नहीं ग्राता। कर्तव्य कर्म के प्रति उत्साह बना रहता है। सफलता में ग्रभिमान ग्रौर ग्रसफलता में निराशा नहीं होती।

उपासना—ईश्वर प्राप्ति के साधनों की ग्रोर प्रयास करते रहना 'उपासना' है। ग्रष्टांगयोग [यम, नियम, ग्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि] की साधना इसके ग्रङ्ग हैं। जैसे सर्दी से ठिठुरते व्यक्ति को ग्रग्नि के समीप जाने से शीत निवारण होकर सुख मिलता है वैसे ही परमेश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति से सब दोष ग्रौर दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव की भांति जीव के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं।

—महर्षि दयानन्द की ग्रनुभूति है कि परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना ग्रौर उपासना ग्रवश्य करनी चाहिए। इनके फल जो हैं वे तो हैं ही परन्तु ग्रात्मा का बल इतना बढ़ता है कि वह पर्वत के समान महान् दुःख पड़ने पर भी घबरायेगा नहीं, ग्रपितु सबको

सहन कर जायेगा। ईश्वर स्तुति, प्रार्थना और उपासना मनुष्य में साहस, धैर्य व कर्तव्य बुद्धि का सृजन करती है जो जीवन की उन्नति के सर्वश्रेष्ठ गुण माने गये हैं। □

देवता

देवता शब्द का अर्थ है—दान देनेवाला, दीपन अर्थात् प्रकाश करनेवाला और द्योतन अर्थात् सत्योपदेश करनेवाला एवं द्युस्थान जिसमें सब निवास करते हैं। इस व्याख्या के अनुसार मुख्य देवता परमेश्वर है, जिसका दान सबको मिलता रहता है। दान देने-वाली दूसरी सभी शक्तियों का स्रोत भी वही एक प्रभु है। दीपन—अर्थात् प्रकाश का मुख्य हेतु ईश्वर ही है, जिसकी व्यवस्था से ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि सभी को प्रकाश दे रहे हैं। द्योतन—सर्वप्रथम सत्योपदेश करनेवाला जगदीश्वर है, जिसने वेदों का ज्ञान दिया। इसी प्रकार वही आचार्य, गुरु, माता, पिता आदि उपदेशकर्ताओं का प्रथम उपदेशक भी है। द्यौ स्थानों का निर्माता वही एक विश्वकर्मा है जिसके कारण सृष्टि का निर्माण होता है। अतः आर्यसमाज देवों के देव महादेव को ही अपना उपास्यदेव मानता है। इसके अलावा जितने भी जगत् में देव कहलाने की श्रेणी में आते हैं, उनका देवत्व अपने अलग अलग गुणों की अपेक्षा से है। विभिन्न देवताओं के देवपन की पूजा स्तुति अर्थात् यथायोग्य व्यवहार द्वारा करने का उद्देश्य आर्यसमाज का है। आर्यसमाज का सातवाँ नियम है कि "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।"

यजुर्वेद के एक मन्त्र में देवताओं को स्मरण किया गया है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता । रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥१४॥२०॥

वेदों के मन्त्र अपने आप में भी 'देवता' कहलाते हैं, जिनके विचारने और मनन करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है । बीज रूप ज्ञान वेद-मन्त्रों में है । अग्नि आदि नाम जहां परमेश्वर के नाम हैं साथ ही भौतिक और व्यावहारिक जगत् में इन नामों का प्रयोग होता है ।

देवता शब्द से ग्रहण किए जानेवाले कुछ प्रसिद्ध नामों की सूची निरुक्त व ब्राह्मण ग्रन्थों आदि के अनुसार इस प्रकार बन सकती है—३३ देवता हैं—वसु ८ + रुद्र ११ + आदित्य १२ + इन्द्र और + प्रजापति । वसु देवता में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य आते हैं । **वसु** इसलिए कि सब पदार्थ इन्हीं में वसते हैं । **रुद्र** देवता शरीर को चलानेवाले हैं, जिनके निकल जाने से सम्बन्धी लोगों को रुलानेवाले होने से रुद्र कहते हैं । रुद्र देवता हैं शरीर के दस प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा । **आदित्य** देवता वर्ष के बारह महीने हैं जिनसे सब की आयु व काल की गणना की जाती है । **इन्द्र** देवता बिजली है जिसके द्वारा ऐश्वर्य और विद्या की प्राप्ति होती है । **प्रजापति** के क्षेत्र में यज्ञ और पशु आते हैं जिनके द्वारा वायु,

वृष्टि जल की शुद्धि और प्रजा का पालन होता है। देवता क्षेत्र में अन्न, प्राण, नाम, स्थान, और जन्म भी आते हैं। पञ्च देवों की गिनती में माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर आते हैं। शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन भी देवों में माना गया है।

इस प्रकार देवताओं की सूची में जड़ और चेतन, साकार और निराकार सभी आ जाते हैं। इन सबकी पूजा अलग अलग साधनों द्वारा और अलग अलग परिभाषाओं में आती है। आर्य-समाज में इन देवताओं की पूजा [यथोचित व्यवहार] स्वरूप 'देवयज्ञ' को अपना आवश्यक अङ्ग माना है। जिसके द्वारा अग्निहोत्र से परोपकार करने की भावना और वायु-शुद्धि की योजना प्रत्येक परिवार में सम्पादित होने का सुन्दर प्रतीकात्मक अभिनय है। देवयज्ञ के अन्तर्गत विद्वानों का सत्कार और सत्योपदेश कराने की परिपाटी भी है। इन सब कार्यों में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना का क्रम भी आवश्यक अङ्ग हो जाता है।

आर्यसमाज की मान्यता है कि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त, प्रकृति से लेके जगत् की रचना, शिल्प और विज्ञान आदि कार्यों में देवताओं का सहयोग अर्थात् सही उपयोग लेना ही उनकी 'पूजा' है। □

ब्रह्मा-विष्णु-महादेव आदि

ईश्वर के सन्दर्भ में इस प्रकार के नाम उसी एक परमेश्वर के वाची हैं। जैसे जो सम्पूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है इसी से ईश्वर को 'ब्रह्मा' कहते हैं। 'विष्णु' नाम इसलिए है कि वह प्रभु

चर और अचररूप जगत् में व्यापक है। इसी प्रकार 'महादेव' नाम उसी जगदीश्वर का है जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान् और सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है। इस प्रकार के अनेक नाम विभिन्न गुणों के कारण उसी एक परमात्मा के हैं। लक्ष्मी, कुबेर, शङ्कर, रुद्र, यज्ञ, गणेश, गणपति, विश्वेश्वर, देवी, शक्ति, श्री, सरस्वती, धर्मराज, यम, काल, शेष, स्वयंभू, कवि, शिव आदि नाम परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

उपर्युक्त नामोंवाले पूर्वज महान् पुरुष, विद्वान्, दैत्य और साधारण मनुष्य इतिहास में जो वर्णित हैं वे सब ईश्वर नहीं थे, बल्कि वे भी उस एक ही जगदीश्वर जिसका मुख्य नाम 'ओ३म्' है की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करते रहे हैं।

यह भी ध्यान रहे कि वेद में से इन शब्दों को लेकर लोक में महापुरुषों के नाम रखे गये हैं, इन ऐतिहासिक पुरुषों अर्थात् हमारे पूर्वजों का इतिहास वेद में नहीं है। वेद में परमात्मा को अकाम, अमृत, स्वयम्भू (**देखिये–अथर्व. कां. १०/सू. ८/म. ४४**) कहा गया है। शरीरधारी जीव जो जन्म लेता है वह 'अमर' नहीं हो सकता। वह किसी माता के गर्भ से उत्पन्न होगा तो 'स्वयम्भू' नहीं हो सकता। □

गणेशजी

यजुर्वेद का एक मन्त्र है—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥२३।१९॥

यह मन्त्र परमेश्वर की स्तुति का है। गणेश अथवा गणपति परमात्मा का ही एक गौणिक नाम है, साथ ही इस मन्त्र का दूसरा अर्थ राजा-प्रजा के सम्बन्ध में है। पौराणिक गणेशजी की पूजा के अर्थ में बहुत से पद्यमय श्लोक बोले जाते हैं, जिनमें गणेश जी की अद्‌भुत आकृति का भी वर्णन होता है। उन्हीं श्लोकों में इस वेद मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। कदाचित् गणेशजी की प्रचलित आकृति राज्यपालन के अध्यक्ष अथवा एक आदर्श ब्राह्मण को इङ्गित करने का कार्टून रूप कहा जा सकता है। मुख्यतया इसका प्रचार लोकमान्य तिलक के 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' के उद्‌घोष के पश्चात् विशेषतः महाराष्ट्रियन विद्वानों द्वारा किया गया है। उसी कार्टून को बाद में पूजनीय देव मानकर पुराणों में भी असंभव गाथा भर दी गई। पर जो भी हो आर्यसमाज जड़ में विश्वास नहीं करता। गणेश जन्म की कहानी भी पुराणों में जो दी गई है, वह नितान्त असम्भव और बुद्धि-विरुद्ध है। □

राम और कृष्ण

आर्यसमाज इन्हें महापुरुष मानता है। इन महापुरुषों के जीवन को आदर्श जीवन मानकर और समझकर अपने जीवन के सुधार की प्रेरणा लेता है। महात्मा कृष्ण की तथाकथित बाल-लीलाओं और राधा-गोपियों की कहानियों से आर्यसमाज की सहमति नहीं है। बल्कि आर्यसमाज की दृष्टि में इस प्रकार के कारनामों को जोड़कर हमारे ऐतिहासिक पुरुषों के पावन चरित्र को अनजान में ही पतित बना दिया गया है।

जहाँ तक उनको ईश्वरावतार बताने का प्रश्न है आर्यसमाज इसे अयुक्त मानता है। क्योंकि ईश्वर अजर और अमर है, जबकि तथाकथित अवतारों ने जन्म लिया है और मृत्यु को भी प्राप्त हुए हैं। ईश्वर सर्वव्यापक होने से कोई स्थान उससे रिक्त नहीं, जबकि कथित अवतारों के शरीर एक सीमित स्थान पर स्थित थे। इस प्रकार से अवतारों को ईश्वर का अंश भी कहते नहीं बनता क्योंकि सर्वव्यापक प्रभु का अंश अलग कैसे सिद्ध होगा। निराकार, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, अजन्मा, अनन्त आदि विशेषण जो ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुए हैं वे अवतारों के साथ नहीं घट सकते।

ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता ही नहीं होती इसका सटीक समाधान महर्षि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार है—'जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस, रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है, जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त गुण, कर्म, स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिए जन्म-मरणयुक्त कहलानेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है! और जो कोई कहे कि भक्तजनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं। क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से कंस, रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो 'न भूतो न भविष्यति'

ईश्वर के सदृश कोई न है, न होगा।" रामलीला और रासलीला को आर्यसमाज हीन कार्य मानता है। जिन तरीकों और पात्रों द्वारा इन महापुरुषों के जीवन के नाम से खिलवाड़ किया जाता है वैसा ही तरीका और वैसे ही पात्र हमारे बाप-दादाओं के नाम से बनाये और नचाये जावें तो सम्भवतः किसी पारिवारिक जन को वह सब सहन नहीं हो सकता। ऐसी ही अनुभूति हमारे महापुरुषों के प्रति हो जावे तब संभवतः रामलीला, रासलीला के प्रति आकर्षण समाप्त हो सकता है। □

नवग्रह पूजा

आर्यसमाज के लिए पूजनीय एक परमेश्वर है। परमेश्वर द्वारा बनाये गये नक्षत्र आदि लोक भौतिक ज्ञान प्राप्ति एवं सदुपयोग करने के लिए हो सकते हैं। सृष्टि को अपने मन, वचन, कर्म से अपवित्र न करें यही उसकी पूजा है। नवग्रह नाम से वेद-मन्त्रों की संगति अथवा विनियोग जो किया जाता है, वह विनियोग वास्तव में उन ग्रहों के साथ घटता नहीं है। मन्त्र में ग्रह के नाम का उच्चारण है, इसी से वह मन्त्र उस ग्रह की पूजा का माना जाने लगा। उदाहरणस्वरूप—

१—आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

यजुर्वेद ३३। ४३॥

उपर्युक्त मन्त्र सूर्य और भूमि का आकर्षण जतानेवाला है, जिसको सूर्यग्रहण का मान लिया गया।

२—उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳪं सृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥
य० १५। ५४॥

बुध का कहा जानेवाला यह मन्त्र विद्वानों और यजमान के प्रति आह्वान है।

३—शं नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये शं योरभि स्रवन्तु नः।

जल, प्राण, परमेश्वरपरक यह मन्त्र शनि का कहा जाने लगा।

इसी प्रकार वेद के विभिन्न मन्त्रों का अर्थहीन विनियोग नौ ग्रहों के साथ लगा दिया गया। प्रकट है कि 'नवग्रह पूजा' जैसी जड़पूजा का इन मन्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है और यह व्यवस्था सर्वथा अवैदिक है। □

गुरुडम

तैत्तिरीय उपनिषद् का ऋषि शिक्षा प्राप्त करने आए शिष्यों को जहां बहुत तरह की शिक्षा करता है, उसमें एक यह भी है कि "हे पुत्रो, शिष्य लोगो! हमारे जो सुचरित्र अथवा अच्छे काम हैं, तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों का कभी नहीं।" मनुष्य अल्पज्ञ है उसकी शक्ति और सामर्थ्य कभी असीम नहीं हो सकती। बहुत अच्छे गुणवाले व्यक्ति में भी कहीं न कहीं कोई दुर्गुण हो सकता है। इन सब

बातों को खुले दिमाग से सोचने पर यही जाना जाता है कि धर्म के नाम पर किसी व्यक्तिविशेष पर अन्धश्रद्धा नहीं करके अपनी बुद्धि और विवेक के अनुकूल आचरण करना चाहिये।

गुरु बनाने के नाम पर बहुत से लोग विशेषकर महिलायें 'भेड़िया धसान' की तरह गुरु-सेवा में अर्पित हो जाने के बहाने बहुत अविद्या में फँसी हैं। ईश्वर के प्रति समर्पण भावना से हटाकर गुरु लोगों ने अपने प्रति समर्पण कराकर शरीर सेवा करवाई है। गुरु के मर जाने पर उसी गुरु के नाम पर दूसरे चेले का अभिषेक गुरुडम चलाने की प्रथा है।

आर्यसमाज इस प्रकार की प्रथा को स्वीकार नहीं करता। आर्यसमाज के प्रवर्तक ने अपने आपको ऐसे भंवर में न फँस जाने के प्रति बहुत अधिक चौकसी बरती है। आर्यसमाज के विधान को भी गुरुडम प्रथा से दूर रखा है। □

सतीप्रथा

सतीप्रथा का अभिप्राय है जीवित नारी का अग्निदाह से प्राणान्त करना। इस प्रकार का अग्निदाह दो रूपों में होता है। एक रूप है नारी का संकट में फँस जाना; ऐसा संकट जिसमें एक तरफ मौत और दूसरी तरफ गुण्डों द्वारा पीड़ित व पतित होना है। इस प्रकार का इतिहासप्रसिद्ध काण्ड राजपूताना के चित्तौड़ की क्षत्राणियां पर आई विपत्ति है। मुगलों से लड़ते लड़ते जब पुरुष वर्ग वीरगति को प्राप्त हो चुके तब शत्रुओं के चंगुल में फंसने की अपेक्षा पद्मिनी आदि हजारों देवियों ने सामूहिक रूप से अग्नि में

अर्पित होकर अपने देश, धर्म व आन-बान की रक्षा की थी। इस प्रकार के प्राणत्याग का स्वरूप वीरगति को प्राप्त होना आदर्श कर्म जैसा है, जिस पर हिन्दू जाति को गर्व है। वे नारियां धन्य थीं, उनका बलिदान अपूर्व था।

सतीप्रथा का दूसरा रूप है अपने पति के मर जाने पर उसकी मृतदेह के साथ जीवित पत्नी का जल जाना। बड़ा वीभत्स कार्य है यह। धर्म के नाम पर स्वार्थी लोगों ने इस प्रथा को बड़े जोर-शोर से प्रचलित कर दिया था। पति के मर जाने पर किंकर्त्तव्यविमूढा नारी को सान्त्वना देने के बजाय उसे साथ में जल कर स्वर्ग जाने का प्रलोभन देकर पता नहीं कितनी अभागिनियों को आग में झोंका होगा। इस दुष्कर्म की पराकाष्ठा बंगाल में हुई, जहाँ बड़े गाजे-बाजे के शोर में चीखती-चिल्लाती अबला को नये वस्त्र व सिंदूर से सजाकर मृतपति की चिता में धकेल दिया जाना आम बात हो गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राजा राम मोहन राय ने इस प्रथा को, अंग्रेजी सरकार को प्रेरित करके, कानून द्वारा बन्द कराकर बंगाल से सदा के लिए इस अन्याय की समाप्ति की। यद्यपि कानून पूरे भारत पर लागू था, पर स्वार्थी लोगों ने अपना जाल पूरी तरह से नहीं समेटा। जहाँ कहीं अवसर पाते हैं सती कर देने की प्रक्रिया अपना लेते हैं। एक अबला की प्राणहानि करके वहाँ के निवासी और गाँव अपनी समृद्धि के तरीके बना लेते हैं। सती के नाम से मन्दिर और मेले पूजा और चढ़ावा, वरदान और आशीर्वाद के केन्द्र बना लिये जाते हैं। इसका मुख्य केन्द्र राजस्थान है। अधिकतर राजस्थानी ही इस अमानवीय प्रथा के भक्त और श्रद्धालु हैं।

महर्षि दयानन्द ने अपने पूना प्रवचन में इस विषय पर कहा था "पाण्डु की एक रानी माद्री सती हो गई थी। सती होने के लिए वेद की आज्ञा नहीं है, किन्तु सती होने की कुरीति पहले-पहल पाण्डु राजा के समय से चली।"

महाभारत की यह घटना एक बुरी प्रथा की शुरुआत थी, यद्यपि माद्री का सती होना स्वेच्छा से था, फिर भी वेदों में इस आत्महत्या जैसी प्रथा की आज्ञा नहीं है। आर्यसमाज इस प्रकार के अन्धविश्वास का समर्थन नहीं करता। इस प्रकार की घटनाओं का पर्दाफाश करना एवं जहां कहीं नई सती बनाने का प्रयास हो रहा हो, वहाँ पुलिस आदि की व्यवस्था से वह सब रुकवाना आर्य-समाज पुनीत कार्य मानता है। □

ज्योतिष

वेद के छः अङ्गों में ज्योतिष भी एक अङ्ग है। ज्योतिष के आधार पर ग्रह, नक्षत्र आदि सृष्टिरचना के आकर्षण-नियम का विधिवत् ज्ञान होता है। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य की गति की गणना से ग्रहण आदि तथा सैकड़ों वर्षों के आगे-पीछे की तिथियाँ आदि ज्योतिष विद्या से निकलती हैं। पृथ्वी से भेजे जा रहे राकेट आदि की जानकारी जिससे होती है, उसका आधार ज्योतिष ज्ञान है। आर्यसमाज इस गणित ज्योतिष को ज्ञान की एक शाखा के रूप में ही मानता है। वर्तमान काल में फलित ज्योतिष का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। ये कपोलकल्पित पद्धतियाँ अवैदिक व स्वार्थी पण्डितों की देन हैं।

ज्योतिष के नाम पर लोगों के शुभाशुभ फल बताये जाते हैं। दुष्ट फलों को अपने अनुकूल करने के लिए पूजा-पाठ व विभिन्न प्रकार के पत्थर [गंडे-ताबीज] पहनने के प्रयोग बताये जाते हैं। यह सब सत्यविरुद्ध और बुद्धिबाह्य होने से आर्यसमाज को मान्य नहीं। कर्म में स्वतन्त्र किये गये मानव का शुभाशुभ फल पहले से कहीं लिखा है तो मानव कठपुतली मात्र ही सिद्ध हो जावेगा। इस प्रकार सृष्टिक्रम के प्रतिकूल फलाफलवाला ज्योतिष मात्र भुलावा है। 'तीर तुक्के के रूप में' कहीं कोई संगति ठीक लग जाती है, पर अधिकतर कल्पनायें गलत होती हैं। भूमण्डल के समस्त मानवों की राशि बारह में बाँटकर क्या उनके भाग्य का निर्णय एक सा हो सकता है! ज्योतिष को मान्यता देने से विश्वासी लोगों को निराशा और अकर्मण्य बना देने के सिवाय कोई लाभ नहीं है। ज्योतिषी ने कुछ अनिष्ट बता दिया तब प्रभावित व्यक्ति असमय में ही निराशा का जीवन जीने लगता है। यदि ज्योतिष बहुत उज्ज्वल भविष्य बता देता है, तब अकर्मण्यता को अधिक प्रश्रय मिलता है। ऋषि ने ठीक लिखा है कि 'जन्म-पत्र' को 'शोक-पत्र' कहना चाहिए। □

संस्कृत भाषा

संस्कृत भाषा और आर्यसमाज का चोली-दामन का सा सम्बन्ध है। ऐसा कोई आर्यसमाजी नहीं जिसके साथ संस्कृत भाषा न जुड़ गई हो। आर्यसमाजी की प्रार्थना, संध्या और हवन सभी संस्कृत में हैं। वेदमंत्रों के साथ "हे ईश्वर दयानिधे भवत्

कृपया" आदि वाक्य संध्या के साथ बोले जाते हैं। आर्यसमाज के नियम-उपनियमों में संस्कृत की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। आर्यसमाज के तीसरे नियम में वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है, इस परम धर्म के लिए संस्कृत ज्ञान आवश्यक है।

आर्यसमाज के उपनियम धारा ३९ में निर्देश दिया गया है कि सब आर्य सदस्यों और सभासदों को संस्कृत एवं आर्य भाषा हिन्दी अवश्य जाननी चाहिए।

संस्कृत के महत्त्व को महर्षि दयानन्द ने अपने जीवनकाल में बहुत अधिक उजागर किया। उनका तमाम चिन्तन और लेखन संस्कृत के माध्यम से रहा। मातृभाषातुल्य संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी को अपना प्रचार-साधन उन्हें इसलिए बनाना पड़ा कि जन-जन की भाषा हिन्दी आसानी से समझी जा सकती थी और पूरे भारत को एक सूत्र में बांधे रखने की क्षमता हिन्दी में विद्यमान थी। हिन्दी के माध्यम से संस्कृत का प्रचार उनका ध्येय बना रहा। एक ओर वे जहाँ हिन्दी में सत्यार्थप्रकाश, व्यवहारभानु जनता को दे रहे थे, वहीं दूसरी ओर संस्कृत की छोटी छोटी पुस्तकें वर्णोच्चारणशिक्षा, संस्कृतवाक्यप्रबोध एवं वेदाङ्गप्रकाश के १४ भाग उनकी ओर से प्रकाशित होते रहे। एक ओर आर्यसमाज की स्थापना के प्रयत्न चल रहे थे, दूसरी ओर संस्कृत पाठशालाओं के खोलने का क्रम जारी था। उनको इस बात का गर्व था कि उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान न था, अन्यथा उनके संस्कृत से प्राप्त ज्ञान को तत्कालीन विद्वान् लोग अंग्रेजी की देन बता देते।

आर्यसमाज शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत को पुनः प्रतिष्ठित

करने में अपने प्रयत्न करता आ रहा है। गुरुकुलों की स्थापना का एक उद्देश्य संस्कृत के माध्यम से पठन-पाठन करना है। डी. ए. वी. संस्था का जन्म जब हुआ था, तब अंग्रेजी शिक्षा के साथ संस्कृत और हिन्दी पठन-पाठन अनिवार्य विषय रखा गया था। आर्य-समाज के विद्वानों ने संस्कृत में बहुत साहित्य तैयार किया है। संस्कृत पाठन की आर्षविधि, पाणिनि अष्टाध्यायी का पुनः प्रचलन आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा ही सम्भव हो सका है। इतना सब होने पर भी संस्कृत की उपयोगिता लोगों ने अभी तक नहीं समझी है।

संस्कृत भाषा सारी भाषाओं की जननी है। इस भाषा के समान मृदुता, मधुरता और व्यापकता किसी भाषा में नहीं है। भारत की समस्त भाषाओं का स्रोत संस्कृत है। संस्कृत के भण्डार से ही विभिन्न भाषाओं के शब्द निकले हैं और निकलते जा रहे हैं। समस्त प्राचीन वाङ्मय, धार्मिक ग्रन्थ और इतिहास आदि संस्कृत में लिखे गये हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भी संस्कृत का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। विदेशी भाषाओं का मूल यदि खोजा जाय तो संस्कृत मिलेगी। संस्कृत ग्रन्थों में छिपा हुआ ज्ञान-विज्ञान हम आर्यों के प्रमाद से लुप्त हो चुका और होता जा रहा है। विदेशी लोग हमारे ही इस संस्कृत खजाने से ज्ञान-विज्ञान खोजकर अपना लेबल लगाते हैं। हम अभागे लोग इम्पोर्टेड ज्ञान को पाकर धन्य हो जाते हैं।

ईश्वर कृपा करे, पूरा विश्व संस्कृत-भाषा को अपनी मुख्य और सम्पर्क भाषा स्वीकार करे। □

वेद

ईश्वर की बनाई हुई यह सृष्टि प्रवाह से अनादि है। उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान जो सृष्टि के प्राणियों के उत्कर्ष के लिए आवश्यक है, वह भी अनादि है। प्रलय के पश्चात् जब-जब सृष्टि का सृजन होता है, तब-तब वेद का शाश्वत ज्ञान भी जगदीश्वर की ओर से दिया जाता है। ठीक ऐसे ही कि वर्तमान जगत् में किसी सभा सोसाइटी के निर्माण के साथ-साथ उसका विधान भी बनता है अथवा किसी आविष्कार के साथ-साथ उसका तकनीकी ज्ञान भी आवश्यक होता है। आर्यसमाज का दृढ़ विश्वास है कि वेदज्ञान ईश्वर की ओर से सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नाम के ऋषियों के माध्यम से दिया जाता है। अतः ज्ञान के क्षेत्र में वेद स्वतःप्रमाण हैं। वेद की प्रामाणिकता के लिए किसी ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदमन्त्र चार संहिताओं में संगृहीत हैं जिनके नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं।

तर्कप्रधान आर्यसमाज वेद की अपौरुषेयता को सिद्ध करने के कुछ समाधान इस प्रकार देता है—

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पण्डिता स्त्री मैत्रेयी को उपदेश करते हैं कि जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। जैसे मनुष्य के शरीर का श्वास बाहर को आके फिर भीतर को जाता है उसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में ज्ञानप्रकाश करता है। प्रलय में संसार में वेद नहीं

रहते परन्तु ईश्वर ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं बीजाङ्कुर की तरह । जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है वही वृक्षरूप होके फिर भी बीज के भीतर रहता है । इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं उसका नाश कभी नहीं होता। क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है इससे इनको नित्य ही जानना ।

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मुख के बिना मुख का काम और प्राणादि के बिना प्राणादि का काम अपने सामर्थ्य से करता है, उसी सामर्थ्य से वेद की रचना भी करता है ।

जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया । नेत्र आदि पदार्थों की आश्चर्यमयी रचना जिसने की है उसी ने वेदों की अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन भी किया है ।

सृष्टि के जीवों को प्रभु ने स्वाभाविक ज्ञान दिया है जिसके साधन से पशु, पक्षी तथा मनुष्य भी अपना जीवननिर्वाह करते हैं, किन्तु स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् नहीं हो सकते हैं । मनुष्य के बालक को एकान्त में कहीं छोड़ दिया जाय; केवल अन्न, जल का साधन रहे तब उस बालक को बोलने तक का भी अभ्यास नहीं हो सकता । मनुष्य को योग्य बनाने के लिए विद्वान् तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए शिक्षित करना आवश्यक है । सृष्टि के पश्चात् जो शिक्षा और ज्ञान माता, पिता, आचार्य और विद्वानों से मिलता रहता है उसी तरह का ज्ञान सर्वप्रथम परमात्मा की ओर से दिया जाता है । ऐसा न होने पर मनुष्य जाति में ज्ञान का सर्वथा अभाव रह जायेगा ।

जब परम कृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिए कन्द, फल

ग्रादि छोटे-छोटे पदार्थ भी रचे हैं तब वही सुख के प्रकाश करने-वाला पिता सत्यविद्याग्रों से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिए क्यों नहीं करता ?

ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थों की प्राप्ति में जितना सुख होता है वह सुख विद्याप्राप्ति होने के सुख से बहुत न्यून है। ऐसा सर्वोत्तम विद्यापदार्थ ईश्वर क्यों नहीं देता ?

वेदों का कागज ग्रादि पर लिखने का काम सृष्टि के बाद होता है। ईश्वर की ग्रोर से शब्दों के द्वारा वेद का नियमित ज्ञान कर्मफल के ग्राधार पर सबसे ग्रधिक पवित्र ग्रात्माग्रों के माध्यम से दिया जाता है जिनको ग्रग्नि, वायु, ग्रादित्य, ग्रङ्गिरा ऋषियों के नाम से जानते हैं।

सृष्टि का ग्रारम्भ ग्रमैथुनी सृष्टि से होता है। युवा मनुष्य पैदा होते हैं, उन युवाग्रों में सर्वप्रथम ज्ञान भी ईश्वर की ग्रोर से होता है।

जीवों के कल्याण ग्रौर भोग-मोक्ष की योजना में भला परम दयालु पिता यदि ज्ञान न देता तो मनुष्य जाति भी पशुवत् ग्रपना जीवन न बिताती ?

संसार में जितने विद्वान्, विचारक, वैज्ञानिक हुए हैं ग्रौर होंगे उनको बीज रूप में उनके ज्ञान का स्रोत ग्रवश्य किसी न किसी रूप में ग्रपने पूर्वजों से मिलता ग्राया है उस श्रृङ्खला का ग्रारम्भ ईश्वर के बिना कैसे सम्भव है ?

कल्पना कीजिए यदि ग्रादि सृष्टि में ईश्वर की ग्रोर से शब्द ज्ञान न दिया होता तो क्या यह मनुष्य जाति भी पशुग्रों की भाँति मूक ही नहीं बनी रहती ?

वेद का ज्ञान निर्भ्रान्त, पक्षपातरहित, पूर्वापराविरुद्ध और सृष्टिविद्या के अनुकूल होने से भी ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध होता है।

ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों को वेद मानना अनुचित है। इन सबमें वेदों के व्याख्यान हैं और कहीं भी वेदानुकूल नहीं होने पर वह प्रसङ्ग अमान्य हो सकता है।

आर्यसमाज का ही पुरुषार्थ है कि उत्तम वेदविद्या की जानकारी फिर से मानव मात्र के लिए सुलभ करा दी, अन्यथा इन वेदों का महत्त्व सिर्फ इतिहास का विषय हो गया था। वेदों के स्थान पर लोग उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों को ही वेद कहने लगे थे। वेद की गलत व्याख्याओं के कारण यज्ञ, पशुओं के वधस्थल बन गए थे। अश्लील भाष्यों के कारण वेद विधर्मियों में मखौल के विषय हो गये थे। बौद्धमत जैसे अनीश्वरवादी सम्प्रदाय वेदमन्त्रों के गलत विनियोगों के कारण पैदा हुए।

वेदों के साथ इतना अन्याय करनेवाला एवं सहनेवाला आर्यजाति का तथाकथित ब्राह्मण समुदाय ही था, जिसने हर किसी के लिए वेद वर्जित कर रखा था। वेद की संहितायें अनुपलब्ध हो गई थीं। मनमाने भाष्यों की पुस्तकें पढ़े-लिखे लोगों की लाईब्रेरी की शोभा हो गई थीं। जनसाधारण को वेदों का दर्शन करना भी सुलभ न था।

ऐसी परिस्थितियों में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के तीसरे नियम के अन्तर्गत घोषणा की "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

ऋषि ने अपना पूरा जीवन वेदभाष्य के लिए अर्पित कर

रखा था, यद्यपि वह कार्य पूर्ण न हो सका किन्तु वे सूत्र रूप से वेदों के गौरव को जनता तक पहुँचाने में सफल रहे। ऋषि ने अपने पाण्डित्य से सिद्ध किया कि—

- ☐ वेदों में मानवीय इतिहास और भूगोल नहीं है।
- ☐ वेदों में मूर्तिपूजा जैसा कोई विधान नहीं है।
- ☐ वेदों में पशुहिंसा जैसे कोई कर्मकाण्ड नहीं हैं।
- ☐ वेद पौरुषेय [मानवीय रचना] नहीं अपितु अपौरुषेय हैं।

आर्यसमाज ने इस कर्त्तव्य को अच्छी तरह समझा है। वेद से बढ़कर आर्यसमाज किसी ग्रन्थ को नहीं मानता। अपने सब संस्कारों, उत्सवों एवं प्रचार-माध्यमों में भी वेदमन्त्र सर्वोपरि रहते हैं। प्रकाशन द्वारा अधिकाधिक लोगों तक वेद पहुँचाने का कार्य भी आर्यसमाज करता आ रहा है। तभी तो आर्यसमाजी अपने आपको वैदिकधर्मी कहलाने में गौरव अनुभव करता है। इसके संस्थापक महर्षि दयानन्द को 'वेदोंवाला ऋषि' कहकर याद किया जाता है।

छः शास्त्रों में विरोध नहीं

धर्म एक है, अनेक नहीं। दो और दो चार होते हैं। इसको कोई स्थान, कोई विद्वान् अथवा कोई भाषा गलत नहीं मानती। इस सिद्धान्त के खण्डन में लोग छः शास्त्रों का उदाहरण देते थे कि शास्त्र एक-दूसरे की बात काटने पर भी मानवीय हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी विद्वत्ता और ज्ञान से लोगों को

समझाया कि छः शास्त्रों का अलग-अलग विषय होने से अपने-अपने विषय की विषय-उपयोगिता बयान करते हैं, अतः वे एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे की बात काटने का कोई उदाहरण इन शास्त्रों में नहीं मिल सकता।

छः दर्शन वेद के ६ मुख्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकमात्र श्रेष्ठ साधन हैं। वेद के दार्शनिक, गम्भीर, सिद्धान्त-तत्त्वों को दर्शन का ज्ञान प्राप्त किए बिना समझना संभव नहीं है। दर्शनों में विज्ञान, विनियोग, कर्मकाण्ड व उपासना के ही समान मानव जीवन के उत्थान के महत्त्वपूर्ण निश्चय व निर्देश किए गए हैं। □

भगवद् गीता

यह ग्रन्थ महाभारत का एक प्रकरण होते हुए भी अपने में एक विशेष महत्त्व रखता है। कृष्णार्जुन संवाद समस्त मानव जाति का पथ-प्रदर्शक बन गया है। विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके भाष्य किये हैं। जिसका जो सम्प्रदाय बना उसी के अनुसार गीता को भी बना लेने की विद्वत्ता दिखलाई गई। इस सन्दर्भ में आर्यसमाज का दृष्टिकोण बिल्कुल सरल है कि जो बातें वेद के विरुद्ध पड़ती हैं, वह बातें आर्यसमाज को अमान्य हैं। विद्वत्ता के आधार पर जो जितना वेदानुकूल भाष्य बन सकता है वहाँ तक आर्यसमाज स्वीकार कर सकता है। आर्यसमाज का चौथा नियम है कि "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।"

गीता-माहात्म्य में स्वयं स्वीकार किया है कि गीता उपनिषदों का सार है। उनमें सर्वप्रथम मुख्य उपनिषद् ईशोपनिषत् तो यजुर्वेद का ४०वां अध्याय ही है। तात्त्विक रूप से विचार करने पर गीता शुद्ध वैदिक सिद्धान्तों की ही पोषक रचना है। महाभारत के रचयिता व्यास के अनुसार कृष्ण के काल में उनसे अधिक वेदविद्याओं का मर्मज्ञ अन्य कोई नहीं था। ऐसा अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में महाभारत के सर्वश्रेष्ठ महात्मा भीष्म-पितामह ने स्वयं घोषणा की है। □

रामायण-महाभारत

आर्यसमाज इन ग्रन्थों को अपने पूर्वजों के गौरवमय इतिहास मानता है। हजारों वर्षों से चले आ रहे इन ग्रन्थों में मिलावट करके बहुत कुछ विरोधाभास भर दिया है। फिर भी बड़े अंशों में ऐतिहासिक तथ्य इनमें सुरक्षित हैं। आर्य जाति का यह अभाग्य ही था कि इन ग्रन्थों की ऐतिहासिकता और वास्तविकता से दूर हटकर इनको आध्यात्मिक रङ्ग देने का प्रयास किया जाता रहा। राम को विष्णु आदि का अवतार बताकर एवं कृष्ण, राधा और गोपियों को जीव, प्रकृति आदि की संज्ञा देकर प्रेरणादायक इतिहास को केवल पारायण का धार्मिक ग्रन्थ बना दिया गया। आर्यसमाज इनको धार्मिक ग्रन्थ न मानकर ऐतिहासिक ग्रन्थ मानता है। ग्रन्थों के अनेक संस्करणों में परस्पर पर्याप्त पाठभेद पाया जाता है, जो उसमें मिलावट का प्रबल प्रमाण है।

आर्यसमाज चाहता है कि वेद अपौरुषेय एवं संसार के समस्त

ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत है। उसमें दिये गए नामों के इतिहास में अनेक व्यक्ति हुए, परन्तु उन नामों का वेद के नामों से कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं। वेद में आये नामों को ऐतिहासिक न माना जाये, बल्कि वेद के सुन्दर शब्दों को चुनकर सृष्टि में पैदा हुए मानवों का नामकरण होता आया है, जैसा कि आजकल होता है। इस प्रकार रामायण, महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ समझने की कोशिश की जाये। □

पुराण ग्रन्थ

अठारह पुराणों का कर्त्ता व्यासजी को बतलाया जाता है। पर यह मान्यता खरी नहीं उतर सकती। वेद शास्त्रों के विद्वान्, शारीरिक सूत्र और योगशास्त्र के भाष्यकार को परस्पर विरोधी ग्रन्थों का लेखक मानना लेखक के प्रति अन्याय है। पुराणों में सच्ची बातों के साथ-साथ झूठी कथायें, गपोड़े और सृष्टि-क्रम के विपरीत जो घटनायें वर्णित हैं, उनसे ऐसा लगता है कि धर्म-ग्रन्थ के रूप में वेदों का स्थान छीनकर योजनाबद्ध तरीके से पुराणों को धर्म ग्रन्थ के नाम पर आरोपित कर दिया गया और इनको वेदों के समकक्ष होने की स्थिति दे दी गई।

पुराणों को अपना धर्मग्रन्थ मान लेने पर ईश्वर और सृष्टि के क्रमानुकूल नियमों का आग्रह ढीला पड़ जाता है। अर्थात् पुराणों का अधिकांश भाग सृष्टि नियमों के प्रतिकूल है। □

स्वाध्याय-सत्संग

आर्यसमाज एक कर्मप्रधान समाज है। आर्यसमाजियों के पुत्र-पौत्र आर्यसमाजी ही होंगे, यह गणित काम नहीं आ सकता। जब तक आर्यसमाजी पिता अथवा दादा अपनी सन्तानों को अपने विचारों व कार्यों से प्रभावित नहीं करेगा तब तक सन्तानों में वह प्रेरणा अपने से जागृत हो जाना, असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। आर्यसमाज के इतिहास को देखें तब वस्तुस्थिति का पता लगता है। आर्यसमाज के दिवङ्गत बड़े-बड़े संन्यासियों, विद्वानों, प्रचारकों और उपदेशकों के परिवारों की वर्त्तमान अवस्था प्रायः भिन्न देखने को मिलेगी। ऐसा क्यों ? इसका एक ही कारण है स्वाध्याय और सत्संग की उपेक्षा। सत्संग और स्वाध्याय आर्य-समाजी विचारधारा के लिए "आक्सीजन" हैं। आक्सीजन द्वारा प्राणों में ताजगी बनी रहती है। हमारे दिवंगत नेताओं ने ऐसी आक्सीजन जनता तक पहुँचाने के साथ-साथ अपने घर में भी फैलाई होती तो आर्यसमाज का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया होता।

स्वाध्याय और सत्सङ्ग की उपयोगिता पर प्रस्तुत है तैत्तिरीय उपनिषद् का एक उपदेश। इस उपदेश को महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि और ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में उद्धृत किया है।

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च।
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च ।
अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।
मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ।
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।
सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः ।
स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः ।
तद्धि तपस्ताद्धि तपः ।।

—ऋ० भा० भूमिका, वेदोक्तधर्म विषय

भावार्थ—आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करता है—"हे शिष्य ! जीवन में जिस ऋत और सत्य का तुम्हें पालन करना है, वह पालन तभी होगा जब इन पर अधिकाधिक स्वाध्याये करके जीवन में उतारोगे और अपने अनुभवों का लाभ दूसरों को प्रवचन द्वारा दोगे । प्रलोभनों में न पड़ना तप है, प्रलोभनों का दमन करना दम है और प्रलोभनों में शान्त रहना शम है । इस प्रकार के तप, दम और शम की सिद्धि तभी होगी जब इन सब पर विचार करते हुए दूसरों को सुनावेंगे । वेद शास्त्रों और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करो । तथा अनेक प्रकार की शिल्पविद्या में उन्नति करो यह **अग्निधर्म** का लक्षण है । किन्तु इस धर्म की सार्थकता तभी है जब इस उन्नति के साथ-साथ अपना अध्ययन और दूसरों को भी इसके लाभों की जानकारी का प्रवचन करते रहो । धर्म का एक लक्षण **अग्निहोत्र** आदि भी है । अग्निहोत्र से वायु, जल शुद्धि और अश्व-मेध पर्यन्त यज्ञों से सृष्टि का उपकार किया जाता है । तुम वह सब करते तथा अपने आपका निरीक्षण करते हुए दूसरों को भी प्रवचन द्वारा सहयोगी बनाओ ।

अतिथिसेवा धर्म का लक्षण है । जिनके द्वारा जगत् में सत्य, उपदेश, विद्या और परोपकार की भावना फैलती है उन सबका आतिथ्य करते हुए अपना स्वाध्याय और प्रवचन मत भूल जाओ ।

अपने अधीनस्थ पुरुषों का यथायोग्य पालन करके और कार्य देकर उनसे यश और श्री की वृद्धि करो । अच्छे कामों में खर्च भी करो । ऐसे पुरुषार्थ से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के फल की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहते हुए अपने आप की स्थिति पर मनन करना और दूसरों को अपनत्व से प्रवचन करना **मानुष धर्म** के लिये आवश्यक समझो ।

अपने परिवार के पालन-पोषण, सन्तानों की शिक्षा-दीक्षा और उन सबको धर्मात्मा व पुरुषार्थी बनाना प्रजा धर्म है, बल्कि पुत्र-पुत्रियों को योग्य बनाने का प्रजाति धर्म भी तभी सफल हो सकता है जब तुम स्वयं इन कार्यों में समय देकर अपने आपका और अपने बच्चों का स्वाध्याय करते हुए आवश्यक प्रवचन करते रहोगे । जनक अथवा जननी बन जाना ही पुत्रेष्टि यज्ञ की सफलता नहीं है बल्कि इस यज्ञ की तैयारी में श्रेष्ठ भोजन व औषध सेवन के साथ-साथ अपने संकल्पों व विचारों का मनन करके स्वाध्याय व प्रवचन द्वारा अपने गर्भस्थ शिशु पर अच्छे संस्कार डालना प्रजनन धर्म है ।"

इस प्रकार के धर्म लक्षण वेद धर्म की नित्यता बनाये रखने के साधन हैं । आर्यसमाज अपनी समस्त गतिविधियों के साथ स्वाध्याय और सत्सङ्ग को बहुत अधिक महत्त्व देता है । □

यज्ञ

यज्ञ की परिभाषा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निम्न प्रकार की है—"जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त वा जो शिल्प व्यवहार और पदार्थ विज्ञान जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, **यज्ञ** कहते हैं।"

आर्यसमाज उन समस्त कार्यों को यज्ञ की संज्ञा देता है, जिनसे प्राणियों को सुख पहुँचता है। धार्मिक कृत्यों के अलावा भौतिक जगत् की उपलब्धियों को भी यज्ञ कहते हैं, यदि उनसे परोपकार होता हो। यज्ञ की महिमा जितनी गौरवशालिनी थी, महाभारत के बाद इसे विकृत करने में भी कसर नहीं रखी गई। परोपकार, दानशीलता, जनसेवा, उदारता, संगठन, प्रेम आदि की भावना से विस्तृत अर्थ रखनेवाला यह 'यज्ञ' केवल कर्मकाण्ड या अग्निहोत्र में रूढ़ रह गया। अग्निहोत्र को भी तो पवित्र न रखकर उसमें पशुबलि का विधान डाल दिया गया। यज्ञ के नाम पर बलि चढ़ा देने से स्वर्ग के दरवाजे खोले जाने लगे। ऐसे ही यज्ञों को देखकर भगवद्गीता में वर्णित यज्ञ को दो अर्थों में लिया जाने लगा। एक यज्ञ वैदिकी कर्मकाण्ड का है, जिसे बड़ा ही क्लिष्ट, स्वार्थ से भरपूर और पूरा न होने पर नरक में डाल देने-वाला बताया गया और दूसरा गीताप्रोक्त यज्ञ जिसका अर्थ है—निष्काम भाव से किया जानेवाला कोई भी श्रेष्ठ कार्य यज्ञ है। इसे गीता का अद्भुत आविष्कार कहा जाता है, वस्तुतः इसमें गीता का कोई वैशिष्ट्य नहीं है। गीता का ज्ञान—परम्परा से चला आ रहा वैदिक ज्ञान ही है, किन्तु कालान्तर में वेदों के मर्म

को न जाननेवाले भाष्यकारों ने आर्ष-यज्ञ को अनार्ष रूप में प्रस्तुत कर दिया था ।

आर्यसमाज ने परम्परा से चले आ रहे पञ्च महायज्ञों का फिर से प्रचार व प्रसार आरम्भ किया । इन पञ्च महायज्ञों की प्रक्रिया जहाँ यज्ञ के महत्त्व को जताती है, वहाँ मनुष्य के निम्न-लिखित पांच कर्त्तव्यों के पालन का विधान करती है—

मनुष्यों के पांच कर्त्तव्य

१. ईश्वर के प्रति—प्रतिदिन प्रभु की भक्ति और उसका धन्यवाद तथा ईश्वरीय ज्ञान वेद का स्वाध्याय—यह हुआ **ब्रह्मयज्ञ** ।

२. भौतिक जगत् व देवताओं के प्रति—प्रतिदिन अग्नि-होत्र करके वातावरण शुद्ध बनाना, जाने-अनजाने जीवों को शुद्ध वायु से सुख पहुँचाना, विद्वानों का सम्मान तथा प्रवचन—**देवयज्ञ** ।

३. अपने गुरुजनों के प्रति—माता, पिता, दादा, दादी, आचार्य, सास, श्वसुर आदि की श्रद्धापूर्वक सेवा, खान, पान, वस्त्र आदि से करते रहना—**पितृयज्ञ** ।

४. साधु-सन्तों, महात्माओं आदि अतिथियों का सत्कार करना—**अतिथियज्ञ** ।

५. जगत् के दु:खी मानव एवं पशु-पक्षियों के लिए खाद्यान्न देना—**बलिवैश्वदेवयज्ञ** ।

प्रकट है कि मनुष्य को सही अर्थों में मनुष्य और देव बनाने के लिए पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान कितना आवश्यक है ।

मानव के जीवन में यज्ञीय भावना [परोपकार, संगतिकरण, दान व ज्ञान-विज्ञान] के विकास से संसार में सुख-समृद्धि की वृद्धि होती है । □

यज्ञ में स्त्री का स्थान

आर्यसमाज के निकट प्रत्येक यज्ञ अथवा अग्निहोत्र में स्त्री-पुरुष को भाग लेने का समान अधिकार है । गृहस्थाश्रम में किये जानेवाले प्रत्येक संस्कार और यज्ञ में यजमान के रूप में दम्पती को सम्मिलित होने की अनिवार्यता है । घर में दैनिक अग्निहोत्र की नियमितता बनाये रखने के लिए महर्षि ने अपनी पुस्तक संस्कारविधि में लिखा है—

"किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवें । अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़के दो-दो बार आहुति करें ।

प्राचीन वैदिक युग में ही नहीं रामायण और महाभारत काल तक भी स्त्रियों को यज्ञ करने की परम्परा प्रचलित थी । श्रीरामजी जब माता कौशल्या के पास वन जाने की अनुमति लेने के लिए पहुँचे, उस समय वे अग्निहोत्र कर रही थीं । देवी द्रौपदी भी अग्निहोत्र एवं सन्ध्यादि नित्यकर्म करती थीं । आर्यसमाज उसी संस्कृति को पुनः स्थापित करने की प्रेरणा करता है । □

अग्निहोत्र अर्थात् हवन

आर्यसमाज के साथ हवन करने की क्रिया बहुत प्रसिद्ध हो गई है। आर्यसमाज ने हवन का प्रचार बहुत किया है। जिन घरों में प्रतिदिन अथवा साप्ताहिक हवन न भी होता हो, पर आर्यसमाजियों के समस्त शुभ कार्य एवं संस्कार हवन से प्रारम्भ किये जाते हैं। इसकी इतनी विशेषता के कारण हैं—

हवन के पीछे परोपकार की भावना निहित है। इसके द्वारा आग में डाले गये सुगन्धित, पौष्टिक पदार्थों एवं घी की सुगन्ध वातावरण में फैलाकर जलवायु शुद्ध करने का उपक्रम है। जलवायु शुद्धि से प्राणिमात्र को सुख पहुँचता है। एक प्रकार से जड़ देवता एवं चेतन जीवों की पूजा हो जाती है।

हवन के मन्त्रों में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना के साथ-साथ परोपकार की जानेवाली व्यवस्था को जतानेवाले मन्त्र भी हैं। भारत से अग्निहोत्र की प्रथा समाप्तप्राय: हो गई थी, उसे पुन: प्रचलित करके आर्यसमाज इस प्रथा को जन-जन तक पहुँचाना अपना कर्त्तव्य समझता है।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी संस्कारविधि पुस्तक के आरम्भ [सामान्य प्रकरण] में लिखा है "मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गल कार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिए यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें। इसीलिए सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें।" □

यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीत को उपनयन, व्रतबन्ध और जनेऊ भी कहा जाता है। सोलह संस्कारों में एक संस्कार उपनयन संस्कार है। जिसके साथ-साथ बालक एवं बालिका का वेदारम्भ अथवा विद्या अध्ययन काल आरम्भ होता है। विद्या आरम्भ से पूर्व इस व्रतबन्ध को स्वीकार किया जाता है। गृहस्थ और वानप्रस्थ के सब कर्त्तव्य-कर्मों में इस चिह्न को धारण किये रहना धार्मिक कृत्य बन जाता है। संन्यासी हो जाने पर जब संन्यासी स्वयं यज्ञस्वरूप हो जाता है तब यह नियम शिथिल हो जाता है।

यद्यपि वर्णव्यवस्था में समाज को चार भागों में बांटे जाने का विधान है, किन्तु शिक्षा की दृष्टि से मुख्य वर्ग दो होते हैं—एक शिक्षित वर्ग दूसरा अशिक्षित वर्ग। शिक्षित वर्ग को 'द्विज' संज्ञा दी गई है, जिनके चिह्न और सम्मान का सूचक यज्ञोपवीत है। दूसरा अशिक्षित वर्ग वह जो शिक्षित किये जानेवाले प्रयासों के पश्चात् भी शिक्षित न होकर द्विज नहीं बन पाते। ऐसे वर्ग को उपनयन का अधिकार नहीं। यज्ञोपवीत के अधिकार के साथ बहुत से कर्त्तव्य इसके साथ लगे हैं, जिसकी व्याख्या विद्वज्जन समय-समय पर करते रहते हैं।

'यज्ञोपवीत' के प्रति आर्यसमाज की बहुत अधिक श्रद्धा है। महर्षि दयानन्द के पूर्व केवल जन्म से वर्ण-व्यवस्था मानने-वाले ब्राह्मण समुदाय ने यज्ञोपवीत पर एकमात्र अधिकार जमा रखा था। ब्राह्मण का लड़का पढ़ा-लिखा न होने पर भी जनेऊ लिए हुए होता था, जबकि कर्म से बने द्विज अन्य वर्णों में जन्मे होने के कारण इस व्रतबन्ध से वञ्चित थे। ऋषि ने इस अव्यवस्था

का प्रतिकार करके द्विज [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] का उपनयन आवश्यक ठहराया ।

ऋषि दयानन्द को पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर जनेऊ की उपेक्षा से बड़ी पीड़ा थी । सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसमाज की आलोचना में उन्होंने लिखा है—"जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान ईसाइयों के सदृश बन बैठना व्यर्थ है । जब पतलून आदि वस्त्र पहिरते हों और तमगों की इच्छा करते हों तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था ?"

पूना प्रवचन में यज्ञोपवीत के विषय में ऋषि द्वारा दिये गये विचार आर्यसमाज की मान्यता को स्पष्ट करते हैं । उन्होंने कहा था "पुरुषों में विद्यारम्भ के समय उत्साह हो । इस उद्देश्य से व्रतबन्ध विषय में विशेष नियम ठहराये हैं । स्त्रियों को भी विद्या सम्पादन का अधिकार पहले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध-संस्कार पूर्व में करते थे । विद्वान् अर्थात् ब्राह्मण लोग आर्य-कुलोत्पन्न बालक को विद्यारम्भ के समय कपास का यज्ञोपवीत विशेष चिह्न ज्ञानधारण करने को देते थे। इसके धारण करने में बड़ी ही जवाबदारी रहती थी । यदि ठीक-ठीक सम्पादन नहीं हुई तो चाहे ब्राह्मण के कुल में ही उत्पन्न हुआ हो, तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता और उसकी अप्रतिष्ठा होती थी । उसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्या सम्पादन कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे, इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्य लोगों ने करा रखी थी । इस कारण सब जाति के पुरुषों को और स्त्रियों को विद्या सम्पादन करने के विषय में उत्साह बढ़ता रहता था ।"

आर्यसमाज अपने सदस्यों, सभासदों और आर्य देवियों को उपनयन धारण करने की प्रेरणा करता है। समस्त संस्कारों एवं यज्ञों में यजमान के रूप में बैठे दम्पती को यज्ञोपवीत धारण करके बैठने का विशेष निर्देश रहता है। यज्ञोपवीत [यज्ञ+उपवीत] ही यज्ञ के समीप ले जाता है, यज्ञ में बैठने का अधिकार प्रदान करता है। □

सन्ध्या

आर्यसमाज अपनी प्रार्थना, उपासना वेद मन्त्रों के द्वारा ही करता है। मन्त्रों भावों और अर्थों में इतना गूढ़ रहस्य भरा होता है कि एक-एक मन्त्र पर जितना अधिक मनन करना चाहें, हो सकता है। सन्ध्या के मन्त्रों में शारीरिक, आत्मिक उन्नति की प्रार्थना की गई है। इन मन्त्रों में सृष्टिरचना और प्रलय के ताण्डव का एक क्रम भी दिया गया है, जिसके आधार पर भक्त अभिमान और अवमान [आत्महीनता] से बचकर निष्पाप बन सकता है। प्राणायाम-विधि का उपयोग भी सन्ध्या में आवश्यक रखा गया है। गायत्री मन्त्र द्वारा सुबुद्धि की प्रार्थना सन्ध्या में निहित है। अन्त में "नमः शिवाय" के द्वारा प्रभु का धन्यवाद, गायन एवं सश्रद्ध नमन भी किया जाता है।

सन्ध्या दिन में दो बार करना ही पर्याप्त है। बार-बार प्रार्थना करते रहना व्यावहारिक नहीं है। सामान्यतः प्रातःकालीन सन्ध्या पूर्वाभिमुख होकर और सायंकालीन सन्ध्या पश्चिमाभिमुख होकर की जाती है। किन्तु विशेष अवस्था में सन्ध्या किस ओर मुँह करके की जाय यह कोई बन्धन नहीं है। □

संस्कार

बच्चों में अच्छे संस्कार डालने के लिए वैदिक मर्यादा में संस्कारों का बहुत महत्त्व है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक मनुष्य के १६ संस्कारों का विधान हमारे ऋषि-मुनियों ने बताया था। उसी विधान का पुनः प्रचलन करने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'संस्कारविधि' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। आर्यसमाज इस संस्कारविधि के अनुकूल संस्कार आदि कराने का प्रयत्न करता है, ताकि सर्वस्त्र संस्कारों का प्रचलन हो और कार्यविधि में एकरूपता आ सके। संस्कारविधि के इन संस्कारों में निम्न विशेषतायें होती हैं—

सब संस्कारों में अग्निहोत्र और ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना अनिवार्य है।

संस्कारों में बोले जानेवाले मन्त्रों में संस्कार के प्रति जानकारी, उच्च भावनाएँ एवं कर्त्तव्यपालन की शिक्षाएँ होती हैं।

मन्त्रों का उच्चारण यथासम्भव यजमान से कराया जाता है।

विवाहित यजमान को पत्नी को साथ लेकर संस्कार में बैठना होता है।

जड़-पूजा व अन्धविश्वास के रीति-रिवाजों को न पनपने के लिए कुछ उपदेश आदि का कार्यक्रम रखा जाता है।

संस्कार के अवसर पर दान-दक्षिणा एवं परस्पर मिलन का सुन्दर सुयोग रहता है। □

योगविद्या

योग का अर्थ है अपने चित्त को आत्मा से जोड़ना, तदनन्तर आत्मा को परमात्मा से जोड़ना। प्रभु की उपासना की वही एक मात्र प्रक्रिया है। महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन के अनुसार योग के आठ अङ्ग १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। ये अङ्ग क्रम से आगे बढ़ते हैं। यम और नियम प्रत्येक सदाचारी जीवन के आदर्श सिद्धान्त हैं। महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के बहुत से संस्कारों में यम-नियम की उपयोगिता विस्तार से वर्णन की है। यह पांच प्रकार का है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यम की साधना से मनुष्य की आत्मिक शुद्धि होती है। मन के विकार समाप्त होते हैं। मन की शुद्धता के पश्चात् नियम का विधान है। पांच प्रकार के नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान हैं। इनके द्वारा शरीर के भीतर और बाहर की शुद्धि, सांसारिक पदार्थों में सन्तुष्टि की भावना, कष्टों को सहने की क्षमता, शास्त्रों का अध्ययन और ईश्वर के प्रति समर्पित होने की भावना का निर्माण करना है।

योग के इच्छुक व्यक्ति को यम, नियम का अभ्यास करते हुए प्राणायाम का अधिकारी बनना चाहिए। प्राणायाम से पहले एक अङ्ग की तैयारी और है, वह है आसन। आसन ऐसा हो, जिसमें घण्टों उसी स्थिति में बैठे रहने की शक्ति आ सके। स्पष्ट है कि योग के नाम से सैकड़ों आसन जो वर्तमान में प्रचलित हैं वे योग के अङ्ग नहीं हो सकते। प्राणायाम की स्थिति में आने के

लिए कुछ ही आसन हैं, उन आसनों में जो आसन जिसको ठीक जान पड़े वही आसन सुखासन है। सुखासन में बैठा हुआ साधक प्राणायाम की विधि करे। प्राणायाम से श्वास-प्रश्वास की लम्बाई बढ़ती है, जिससे मन की स्थिति वश में हो जाती है। आसन और प्राणायाम का अपना एक जोड़ा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। ईश्वर प्रणिधान के साधक को 'प्रत्याहार' अङ्ग के द्वारा ईश्वर से लौ लगाने की धुन लग जाती है। प्रत्याहारी पुरुष तदुपरान्त धारणा, ध्यान, समाधि का पथिक बन सकता है। आज कल योग के नाम पर ध्यान लगाने के केन्द्र खुलते जा रहे हैं। जिनको मेडिटेशन के नाम से जाना जाता है। वह एक प्रकार से योग के साथ खिलवाड़ है।

आर्यसमाज की मान्यता है कि हठयोग के नाम से प्रचलित योग, योग नहीं है। वस्ति, त्राटक, नेति और धोती आदि क्रियायें प्राकृतिक उपचार हो सकते हैं, पर योग कदापि नहीं। योग की साधना केवल परमेश्वर की उपासना है। परकाया प्रवेश आदि धारणायें भी भ्रान्त हैं।

ईश्वर-प्राप्ति के प्रमुख साधन इस योगविद्या का बड़ा दुरुपयोग किया गया है। 'योग' के नाम पर असम्भव गाथायें और मनमाने करतब हमारे अर्वाचीन साहित्य में इतने भर दिये गये हैं कि भारतीय इस विद्या से उदासीन रहने लगे। ईश्वर-प्राप्ति के नाम पर सरल और सुलभ रास्ते अपनाये जाने लगे। योग की अधूरी शिक्षा विदेशों में अब जब पहुँचने लगी तब वहाँ की जनता योग जानने की अभिलाषा से भारतीय सन्तों को अपने यहाँ बुलाने लगी। अधकचरे ज्ञान के आधार पर योगविद्या भारत में इम्पोर्ट होने लगी। योग के स्थान पर 'योगा' के नाम

से आबाल-वृद्ध परिचित होने लगे। प्रत्येक शारीरिक आसन और श्वास की कसरत 'योगा' कहलाने लगी है, जबकि हम जानते हैं कि "योगविद्या" अष्टाङ्ग योगयुक्त सम्पूर्ण साधना का नाम है। योगसाधना के क्षेत्र में व्याप्त यह अज्ञान दूर होना ही चाहिये। □

नामस्मरण

ईश्वर के नाम का अर्थसहित विचार अपनी आत्मा में रखकर अपने-आपको ईश्वर समर्पित समझना 'नामस्मरण' है। ईश्वर के मुख्य नाम 'ओ३म्' के जाप का अर्थ भी यही है कि अपने समस्त कार्यकलापों में ईश्वर के विरुद्ध आचरण न आने देना। अंग्रेजी में जिसे "गौड फियरिंग" कहते हैं, वैसी भावना का बन जाना। ऐसी भावना को कवि ने इस प्रकार प्रकट किया है—

ज्यों त्रिया पीहर बसे, सुरत रहे पिय मांह।
त्यों मम प्रभु हृदय बसे, एक क्षण विसरत नांय।।

आर्यसमाज कीर्तन की उस प्रक्रिया से असहमत है, जिसमें दिन-रात बिना सोचे-विचारे राम राम, हरे राम, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण आदि की रट लगाते रहते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों से प्रेरणा लेकर तद्वत् आचरण करना ही उनका सन्ध्या, कीर्तन है, किन्तु नामस्मरण अथवा जप तो एकमात्र "ओ३म्" का ही उचित है, जिस पवित्र ओ३म् नाम का स्मरण सभी ऋषि, मुनि, योगी और श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि महापुरुष करते रहे हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।

[भगवद्गीता अ० १८।६१]

हृदय में बसनेवाले महान् प्रभु को आवाज देकर चिल्ला-चिल्लाकर हम फिर कहीं बाहर से बुलाने की कल्पना भी क्यों करें ? उसके नाम पर कोलाहल निष्प्रयोजन व निरर्थक है। □

आर्यसमाज कोई सम्प्रदाय नहीं है

जो मनुष्य श्रेष्ठ, विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी, सदाचारी व आस्तिकता आदि मानवीय गुणों से युक्त हैं, वही आर्य हैं। महर्षि दयानन्द मानवीकरण में विश्वास रखते थे। मानवता से युक्त इस तरह के आर्यों के समूह को इकट्ठा करके समाज का गठन करना चाहते थे। आर्यसमाज ऋषि की इसी कल्पना का साकार रूप है।

सम्प्रदाय की मुख्य पहचान होती है कि वह किसी व्यक्ति-विशेष को अपना पैगम्बर, गुरु, अवतार तथा तीर्थंकर या सर्वेसर्वा मानकर चलता है। सम्प्रदाय की मान्य पुस्तकें अपने-अपने सीमित रीति-रिवाजों व गाथाओं से भरी होती हैं। आर्यसमाज इन सीमाओं से परे है। आर्यसमाज की धर्मपुस्तक वेद है, जिस पर सम्पूर्ण मानव जाति का समान अधिकार है। संसार की किसी भी धार्मिक पुस्तक अथवा धार्मिक पुरुष की बात आर्यसमाज को वहीं तक मान्य है जहां तक वह वेदानुकूल और बुद्धिगम्य है। वही कसौटी आर्यसमाज के विद्वानों और साहित्य पर भी लागू है। आर्यसमाज के विधेयात्मक पक्ष से किसी सम्प्रदायवादी को

असहमति प्रकट करने की गुंजाइश नहीं है। मतमतान्तरवाले अपने पाखण्ड और अन्धविश्वास को जितना दूर हटाते हैं उतना ही वे आर्यसमाज के निकट आते हैं। आर्यसमाज के सदस्य बनने के दस नियमों में कहीं सम्प्रदाय की गन्ध तक नहीं है। ये सभी नियम सार्वभौम मानवधर्म के दस सुनहरी सूत्र हैं।

आर्यसमाज का चौथा नियम है—"सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।"

आर्यसमाज के दस नियमों में एक भी स्थान पर 'दयानन्द' शब्द नहीं है। आर्यसमाज के तीसरे नियम में व्यवस्था की गई है—"वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" ध्यान रहे यहां ऋषि दयानन्द प्रणीत 'सत्यार्थप्रकाश' आदि किसी ग्रन्थ के पढ़ने-पढ़ाने को परम धर्म नहीं बताया है। प्रकट है कि आर्यसमाज दयानन्दी मत या दयानन्द पन्थ नहीं है। यह सार्वभौम सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचारक संगठन है। □

सनातन धर्म

'सनातन' का अर्थ है जो सदैव से है और नित्य नूतन है, अतः वैदिक धर्म ही सनातन धर्म है। आर्य अपने को वैदिकधर्मी मानता है। इसी से यह सनातनधर्मी है। सनातन धर्म से तात्पर्य गङ्गा के गङ्गोत्री से निकलनेवाले जल की तरह निर्मल से था, किन्तु अविद्या और प्रमाद के कारण हुगली नदी के गँदले जल को ही सनातन धर्म मान बैठे। आर्यसमाज ने जब इसकी पवित्रता की

आवाज उठाई तब तथाकथित सनातन धर्म के ठेकेदारों ने आर्यसमाज को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझ लिया।

आज आर्यसमाज और सनातन धर्म दो अलग अलग पक्ष माने जाने लगे हैं, पर आर्यसमाज अपने इस सनातन धर्म नाम को छोड़ना नहीं चाहता, बल्कि इसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराने का पुरुषार्थ करता आ रहा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य का आरम्भ करते हुए लिखते हैं—"सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसीलिये उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके"। अतः हमें समझ लेना चाहिये कि व्यवहार में जिसे आज 'सनातन धर्म' कहा जा रहा है, वस्तुतः वह 'पौराणिक मत' है, क्योंकि सनातन धर्म तो वैदिक धर्म का ही दूसरा नाम है. इसी को मानव धर्म, विश्वधर्म, सार्वभौम धर्म, सनातन धर्म भी कहते हैं।

अपने पूना प्रवचन में मनुस्मृति के धर्म के दस लक्षण और एक लक्षण अहिंसा में जोड़कर ग्यारह धर्म के लक्षणों को 'एकादशलक्षणी सनातन धर्म' के नाम से ऋषि ने व्याख्या की है। आर्यसमाज 'सनातन' इस प्राचीन नाम के गौरव को उसके वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत करना चाहता है।

'सनातन' शब्द की परिभाषा में अथर्ववेद के निम्न मन्त्र की व्याख्या प्रसिद्ध विद्वान् पं. शिवकुमारजी शास्त्री द्वारा की हुई, बहुत प्रेरक है। मन्त्र है—

सनातनमेनमाहुस्तदद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥

शब्दार्थ—[एनम्] इसको [सनातनम्] सदा रहनेवाला अनादिकालीन [आहुः] कहते हैं। [तद्] और तो भी वह [अद्य] आज प्रतिदिन [पुनः नवः] फिर फिर नया [स्यात्] होता है [अन्य] एक [अन्यस्य] दूसरे से [रूपयोः] रूपों में समान रूपों में ही [अहोरात्रे] ये दिन रात [प्रजायेते] सदा उत्पन्न होते रहते हैं।

मन्त्र के आशय को खोलने की चाबी "सनातनम्" की, अनादित्य की परिभाषा "पुनःनवः" फिर नया होना है। जो नित्य नया नहीं होता वह सनातन नहीं हो सकता, वह जीर्ण हो गया, पुराना हो गया, वह आज चलने योग्य नहीं रहा।

स्पष्ट है कि सनातन वह है जो सदैव से है और नित्य नूतन है। सूर्य सदैव से है और नित्य नूतन है, अहोरात्रि—दिन-रात का चक्र सृष्टि के आदि से है, किन्तु आज भी नूतन है। वैदिक [सनातन] धर्म की गङ्गा सृष्टिसर्ग के आरम्भ से प्रवाहमान है और आज भी वह निर्मल और नूतन है। इस शाश्वतधारा को बीच के कालखण्ड में मत-मतान्तरों के प्रस्तर खण्डों ने अवरुद्धप्रायः कर दिया था, देव दयानन्द ने "भगीरथ" बन कर मत-मतान्तरों के हटाने का भगीरथ पुरुषार्थ किया। इन शिलाखण्डों को हटाकर सत्य सनातन वैदिक धर्म की अवरुद्ध हुई शाश्वत धारा को पुनः आगे बढ़ा दिया। आर्यसमाज के रूप में उन्होंने किसी कल्पित नई धारा [किसी नये मत-पन्थ] को जन्म नहीं दिया। □

भारत के मूल निवासी आर्य

विदेशी हमारे इतिहास को योजनाबद्ध तरीके से भ्रष्ट करते श्रा रहे हैं। जिसमें सबसे बड़ी विकृति यह हुई कि श्रार्य लोग इस देश के मूल निवासी नहीं हैं। ईरान व मध्य एशिया से श्राये श्रार्य लोगों ने यहां के मूल निवासी द्रविड़, भील श्रादि को खदेड़कर इस भारत भूमि पर कब्जा कर लिया।

इतिहास में झूठे तथ्य जोड़कर अंग्रेजों श्रौर मुसलमानों की तरह श्रार्यों को भी विदेशी करार देने का षड्यन्त्र रचा गया। इसी झूठ ने उत्तर-दक्षिण, द्रविड़-श्रार्य के बीच भेद-भाव की दीवार खड़ी कर दी। इस श्रसङ्गत धारणा का सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऐतिहासिक तथ्यों के श्राधार पर तर्कपूर्ण शब्दों में खण्डन किया है। महर्षि ने जो तथ्य प्रस्तुत किये उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

सृष्टि के श्रादि में मनुष्यों की सृष्टि सर्वप्रथम त्रिविष्टप् श्रर्थात् तिब्बत में हुई। उस समय मनुष्य जाति एक थी। मनुष्यों में श्रेष्ठों के नाम 'श्रार्य' श्रौर देव प्रसिद्ध हुए श्रौर दुष्टों को 'दस्यु' कहा जाने लगा। श्रार्यों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य श्रौर शूद्र ये वर्ग-क्रम से चार भेद हुए।

सृष्टि की उत्पत्ति लगभग दो श्ररब वर्ष पहले हुई।

श्रार्य श्रौर दस्युश्रों के परस्पर झगड़ों के कारण श्रार्य लोग सीधे इसी भूमि खण्ड में श्राकर बसे श्रौर देश का नाम 'श्रार्यावर्त' प्रसिद्ध हुश्रा।

इससे पूर्व इस देश का नाम व निवासी भी कोई नहीं था।

किसी संस्कृत ग्रन्थ में अथवा प्राचीन इतिहास में कहीं नहीं लिखा है कि आर्य लोग ईरान आदि बाहर से आकर यहां के जंगलियों से लड़कर राजा हुए हैं अतः विदेशियों के लेख माननीय नहीं हो सकते।

आर्यावर्त की ऐतिहासिक शृङ्खला इस प्रकार है—ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश और इनके स्वायंभुव आदि सात राजा उनकी सन्तान इक्ष्वाकु से लेकर रघ व रामचन्द्रजी तदनन्तर कौरव-पाण्डव का महाभारत काल आया, जो चक्रवर्ती राज्य कहलाया।

महाराज युधिष्ठिर से लेकर महाराज यशपाल तक के राजाओं की सूची, जिसकी वर्ष गणना ४१५७ होती है, महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में दी है और उन्होंने आर्य लोगों के राज्यकाल को सम्वत् १२४८ तक माना है, इससे पूर्व विदेशी आक्रमण तो अवश्य हुए, किन्तु तब तक विदेशी शासक आर्यावर्त में नहीं रहा।

सम्वत् १२४८ के पश्चात् का काल विदेशियों के आक्रमण और शासन का है, जो वर्तमान इतिहास के रूप में है।

आर्यसमाज की मान्यता है कि द्रविड़ और आदिवासी कहा-जानेवाला समुदाय आर्यों का वंशज होने से आर्य है। देश का वह वर्ग भी आर्यों का ही वंशज है, जो अपने आपको मुसलमान और ईसाई समझकर भारत का विजेता और शासक कहलाने में गौरव मानता है। □

अछूत

आज सरकारी भाषा में जिसे अनुसूचित जाति कहा जाता है, जिसके उत्थान के लिए सरकार ने विशेष सुविधायें प्रदान की हैं, यह वही जाति है जिसको महात्मा गांधी ने एक नया नाम दिया है "हरिजन"। "हरिजन" वही वर्ग है जिसे हिन्दू समाज ने सदियों से अछूत और अस्पृश्य घोषित कर रखा था। इस अस्पृश्यता का कारण था जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानना और जो इस व्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र कुल में पैदा हो गये, उनकी हमेशा-हमेशा के लिए अछूत कहकर उपेक्षा करना। सिर्फ उपेक्षा ही नहीं उनके दर्शन करना पाप, उनकी छाया पड़ना पाप और उनको अपने से उच्च स्थान पर बैठे देखना पाप मान लिया गया था। जल के लिए सार्वजनिक कुंओं पर उनकी जो दुर्गति होती थी वैसी पशुओं की भी नहीं थी। मन्दिरों के भगवान् को भी उनके दर्शन से अपवित्र हो जाने का खतरा रहता था। अछूत परिवार का पढ़ा-लिखा बच्चा भी अन्यों के मूर्ख बच्चे को दूर से पांयलागी बोलता था। पढ़े-लिखे कथित अछूत बच्चों पर निरक्षर द्विज बच्चों को महत्त्व देकर हिन्दू जाति ने धर्म के नाम पर बहुत भेदभाव किया। इस प्रकार जो वर्णव्यवस्था मानव के कल्याण के लिए वरदान थी वही वर्णव्यवस्था जन्मगत जाति व्यवस्था के रूप में मानव के लिए अभिशाप बन गई और इस प्रकार बहुत बड़ा सामाजिक पाप बन गई।

इस पाप को मिटाने के लिए बहुत से सन्त-महात्मा आये। उन्होंने अपने तरीके से छुआछूत का विरोध किया, परन्तु धर्म-धुरन्धर पण्डितों पर असर नहीं हुआ। गांधीजी ने आजादी की

लड़ाई के साथ-साथ इस समस्या के सुलझाने में भी प्रयत्न किये, किन्तु शास्त्रों के स्तर पर उनके पास न विद्या थी और न ही समाज की विचारधारा बदलने का शास्त्रीय प्रयोग। उनके अपने प्रयोग ने एक नया वर्ग खड़ा कर दिया और यही वह वर्ग है जो सत्ता, वोटों और आजीविका के लोभ से अपने-आपको बदलना नहीं चाहता, हिन्दू समाज की घृणास्पद मान्यताओं से अब यह वर्ग संघर्ष करने की क्षमता में है। गलत मान्यताओं को समाप्त करके आर्य संस्कृति की प्रमुख धारा में सम्मिलित होने में उसको विशेष रुचि नहीं रही। धर्मपरिवर्तन की घटनाओं में हरिजनों का नाम बहुत आने लगा है। सरकारी रुख, जनता की भावनायें, अब हरिजन वर्ग के पक्ष में होने पर कहीं-कहीं सवर्ण कहे जानेवाले व्यक्ति हरिजनों पर अत्याचार करते रहते हैं। काश! वर्णव्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित होती, जन्म पर नहीं। समस्या का सर्वोत्तम समाधान यही है। आर्यसमाज का दलितोद्धार आन्दोलन यदि सफलता की ओर बढ़ता रहता, जिसकी प्रेरणा ने ही कांग्रेस और गांधीजी को प्रभावित किया, तो आज भारत का चित्र ही दूसरा होता।

आर्यसमाज पूरे हिन्दू समुदाय को आर्य मानता है। वैदिक वर्णव्यवस्था—गुण-कर्मानुसार मनवाने का प्रयोग आर्यसमाज ने अपने आरम्भ काल से किया हुआ है "जन्मना जायते शुद्रः" अर्थात् प्रत्येक बालक जन्म से शूद्र होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विज इसलिए कहते हैं कि उन्होंने विद्या प्राप्त की है। बालक चाहे द्विज का हो अथवा शूद्र का, सभी को विद्याध्ययन के लिए भेजा जाय। जो बच्चे स्नातक बनकर निकलें वे सब द्विज हों और असफल बनकर निकले हुए अथवा अशिक्षित युवकों को

शूद्र माना जाय। किसी को शूद्र मानने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसके साथ छूत-छात का व्यवहार किया जाय। वह भी आर्य है और आर्यों के समान अधिकार रखता है, क्योंकि उसके पास विद्वत्ता नहीं है इसी से सेवा करने का दायित्व उसे दिया जा सकता है। आर्यसमाज का यह पक्ष शुद्ध वैदिक है।

प्राचीन काल में इस प्रकार की व्यवस्था से ही महाभारत में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल से, विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण से और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। इस पक्ष का सफल प्रयोग गुरुकुलों में हुआ है। "सवर्ण" शब्द का प्रयोग केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए करना अयुक्त है, अज्ञानमूलक और स्वार्थमूलक है। सत्य यह है कि वर्ण तीन नहीं चार हैं। **शूद्र भी चौथा वर्ण होने से "सवर्ण" है, "अवर्ण" नहीं।** राजनीति के खिलाड़ियों ने यह भेदभावमूलक प्रयोग प्रारम्भ किया है।

आर्यसमाज के इतिहास में और वर्तमान में भी बहुत प्रचारक और पुरोहित ऐसे हुए हैं जिनका जन्म तथाकथित अछूत वर्ग में हुआ और अच्छी विद्या प्राप्त करके आर्यसमाज की वेदी पर उन्हें सम्माननीय पद और प्रतिष्ठा मिली। आर्यसमाज के इस रचनात्मक कार्य में मुख्य बाधा पौराणिक वर्ग से नहीं आई, किन्तु सरकारी आरक्षण के लोभ ने इस दिशा में बढ़ रहे चरणों को शिथिल कर दिया।

शूद्र के साथ जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है आर्यसमाज उसे समानता का दर्जा देता है। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है, "चारों वर्ण का परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-दुःख, हानि-लाभ में ऐकमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में

तन, मन, धन से व्यय करते रहना।" क्योंकि शूद्र पढ़ा नहीं है, अतः वह सब सेवाओं में चतुर और पाक विद्या में निपुण, अति प्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विज लोग इसके खान-पान, वस्त्र, स्नान विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब कुछ देवें। अथवा मासिक [व्यवस्था] कर देवें। "इस प्रकार की व्यवस्था सत्यार्थप्रकाश समु. ४ में सुझाई गई है। इतना ही नहीं ऋषि ने लिखा है कि "आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि सेवा करें।" आर्यसमाज ने इस आदेश का बहुत सीमा तक पालन किया है। प्रारम्भ काल में इन सब कार्यों से आर्यसमाजियों का जाति बहिष्कार तक हुआ है। अब यह समस्या नहीं रही है, परन्तु पोंगापन्थी हिन्दू समुदाय अब भी भेदभाव—छूतछात की बीमारी से ग्रस्त है।

छुआछूत माननेवालों की ओर से विशेष तर्क इस प्रकार हैं—

- ☐ शूद्र लोगों का खान-पान, रहन-सहन शुद्ध नहीं है।
- ☐ शूद्र लोग अपवित्र कार्य करते हैं।

जहाँ तक खान-पान, रहन-सहन की अशुद्धता का प्रश्न है यह सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होता है। शूद्र लोग यदि मांस व शराब का सेवन करते हैं तो ये अवगुण उनसे दूर कराने आवश्यक हैं। यदि द्विज [ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य] कहे जानेवाला व्यक्ति शराबी मांसाहारी है तो जो इलाज और व्यवहार उस द्विज के साथ किया जाता है, उसी तरह का इलाज मानवीय आधार पर शूद्र के साथ किया जाना चाहिए। शूद्र के रहन-सहन का निम्न स्तर बहुधा इसलिए है कि उसकी आजीविका के स्रोत तथाकथित

द्विजों के हाथ में हैं। उनके सुख-दुःख, हानि-लाभ, विवाहादि में सहायक बने रहने पर उनका जीवन-स्तर सुधर सकता है, फिर बहुत से तथाकथित शूद्र परिवार बहुत अच्छे पढ़े-लिखे, शुद्ध सात्विक होते हुए भी "अछूत" के दायरे से क्यों नहीं निकल पाते ? इसलिए खान-पान, रहन-सहन की अशुद्धता मुख्य कारण न होकर गलत धारणायें मुख्य कारण हैं ।

दूसरा कारण अपवित्र कार्य करने का बताया जाता है । यह ठीक है कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिनसे अपवित्रता होती है, परन्तु वैसे कार्यों का समय सीमित होता है । कार्य कर चुकने के पश्चात् पवित्रता वापस आ सकती है। उदाहरण के तौर पर प्रत्येक स्त्री और पुरुष प्रतिदिन लघुशङ्का और दीर्घशङ्का शौच करते समय अपवित्र हो जाते हैं, किन्तु बाद में जल आदि से पवित्र होते हैं । मातायें अपने बच्चों को, नर्सें अपने रोगियों को टट्टी पेशाब कराते समय अपवित्र होती हैं, कार्य कर चुकने के पश्चात् स्नानादि से पवित्र बन जाती हैं। डॉक्टर अपनी लेबोरेटरी में रोगियों के टट्टी-पेशाब की जांच करते समय अपवित्र हैं, किन्तु लेबोरेटरी से बाहर पवित्र बनकर निकलते हैं। इसी प्रकार के कार्य शूद्रों के एक वर्ग को शौचालय व नालियाँ साफ करते समय करने पड़ते हैं । यह उनकी मजबूरी है कि हम सवर्ण कहे जाने वालों की सेवा इस तरह की भी उनको करनी पड़ती है और उन्हें ही हम छीः-छीः करते हैं । यह हमारी भावना की कमजोरी है। अन्यथा एक नर्स व डॉक्टर की भाँति वे लोग भी कार्य कर चुकने के पश्चात् स्नान आदि से पवित्र होते ही हैं। शूद्र वर्ग का एक हिस्सा ऐसा भी है जो मृत पशुओं के चमड़े का काम करते हैं।

यह उनका गृह उद्योग है। इसी उद्योग को बड़े स्तर पर बाटा श्रौर फ्लेक्स कम्पनीवाले करते हैं। तथाकथित सवर्ण हिन्दू को बाटा कम्पनी में सर्विस करने अथवा उसके शेअर खरीदकर भागीदार बनने में कोई ऐतराज नहीं किन्तु गांव के चर्मकार से घृणा है कि वह जूते बनाता है। अपने जूते बनाने के काम से अवकाश के समय वह चमार भी पवित्र है ऐसा नहीं समझना द्विज कहे जानेवाले लोगों के मन की कमजोरी अथवा कुसंस्कार हैं।

कुसंस्कार इतने घर कर गये हैं कि पवित्र से पवित्र कर्म करनेवाला हरिजन उनकी दृष्टि में अछूत है। यही कारण है कि सरकार श्रौर गणतन्त्र की शक्ति ने अछूतों को विशेषाधिकार देकर अब तक होते आये दुर्व्यवहारों का बदला लेने का अवसर दे दिया है। ईश्वर करे, तथाकथित सवर्णों व अवर्णों में पुरानी मलिनतायें दूर होकर सभी पुनः आर्योचित कर्त्तव्यों में लग जायें। □

विधवा-विवाह

आर्यसमाज विधवा-विवाह का समर्थक है। समर्थक ही नहीं बल्कि प्रेरक भी कहा जा सकता है। विधवा-विवाह-निषेध को बड़ी सामाजिक कुरीति मानता है। वर्तमान युग में प्रचलित मान्यताओं से देश में विधवाओं की संख्या श्रौर उनके साथ दुर्व्यवहार व अनाचारों को समझकर आर्यसमाज ने इसे एक आपद्धर्म मानकर पूरी शक्ति से इस रोग के निवारण का यत्न किया है।

भ्रूण हत्याओं के दोष से बचने के लिये विधवा-विवाह की व्यवस्था एक मार्ग है, जिसको आर्यसमाज प्रशस्त करना चाहता है। आर्यसमाज ने विधवा-विवाह के समर्थन में जो सबसे बड़ा तर्क लोगों के सामने रखा वह यह था कि जिन धर्मग्रन्थों में पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा है, धर्मग्रन्थों के उसी पृष्ठ में स्त्रियों को भी पुनर्विवाह की आज्ञा है, क्योंकि पुनर्विवाह की ऐसी आज्ञा अथवा निषेध दोनों के लिए समान है। स्वामी दयानन्द ने अपने पूना प्रवचन में कहा था—

☐ जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे।

—पूना प्रवचन

☐ विधवा स्त्री का पुनर्विवाह होना चाहिये और पुरुष अपनी स्त्री के जीवित रहते हुए दूसरे विवाह का पात्र नहीं है। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसको अधिकार है कि वह पुनः विवाह करना चाहे करे वा न करे। ऐसा ही अधिकार विधवा स्त्री को भी होना चाहिये।

—ऋषि की जीवनी में सहारनपुर में एक प्रश्नोत्तर

☐ ऋषि ने पुनर्विवाह का अधिकार और प्रतिबन्ध स्त्री-पुरुष दोनों पर एक समान रखा है, यदि पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है तब स्त्री को पुनर्विवाह के लिए क्यों रोका जाय? अतः पुनर्विवाह के अधिकारी पुरुष तथा स्त्री समान हैं।

सुतरां आर्यसमाज का पक्ष विधवा-विवाह के समर्थन में

मानवता ग्रौर समानता के ग्राधार पर बड़ी दृढ़ता से रखा हुग्रा है ।

□

अन्तर्जातीय विवाह

महर्षि दयानन्द ग्रपने ग्रमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश समु. १० में इतिहास के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं "देखो ! काबुल कन्धार, ईरान, ग्रमेरिका, यूरोप ग्रादि देशों के राजाग्रों की कन्या गान्धारी, माद्री, उलोपी, ग्रादि के साथ ग्रार्यावर्तदेशीय राजा लोग विवाह ग्रादि व्यवहार करते थे । शकुनि ग्रादि; कौरव पाण्डवों के साथ खाते-पीते थे, कुछ विरोध नहीं करते थे । क्योंकि उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी ग्रौर एक दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ ग्रापस में ग्रपने समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था । ग्रब तो बहुत से मत वाले होने से बहुत-सा दुःख ग्रौर विरोध बढ़ गया है । इसका निवारण करना, बुद्धिमानों का काम है ।

महर्षि पूरे भूगोल की यहाँ बात करते हुए याद दिलाते हैं कि उस समय रोटी-बेटी का व्यवहार ग्रापस में होता था, सबका वेद-मत था । सुख-दुःख, हानि-लाभ में सब भागीदार रहते थे । ग्रब बहुत मतमतान्तरों के कारण दुःख ग्रौर विरोध बढ़ गया है । ऋषि का यह चिन्तन समस्त भूगोल के लिए है, पर ग्रार्यावर्त ग्रपने में ही क्या कम है ? तथाकथित हिन्दू समाज में भी बिखराव ग्रौर ग्रलगाव की प्रवृत्ति बढ़ रही है । इस प्रवृत्ति को रोकने का एक उपाय है परस्पर विवाह ग्रादि का व्यवहार करना । **भाषा और**

प्रादेशिकता के नाम पर खण्ड-खण्ड होते हुए देश को अन्तर्जातीय विवाह द्वारा बचाया जा सकता है ।

आर्यसमाज को इस सुधारकार्य में नेतृत्व करने की आवश्यकता है । **इस प्रसंग में ऋषि-ग्रन्थों के निम्न उद्धरण हमारा मार्गदर्शन करते हैं—**

☐ लड़का-लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है । जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये ।
—सत्यार्थप्रकाश समु० ४

☐ चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाववालों का विवाह कभी न होना चाहिए ।
—सत्यार्थप्रकाश समु० ४

☐ कन्या का नाम 'दुहिता' इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट करने में नहीं । **—सत्यार्थप्रकाश समु० ४**

☐ जब तक दूरस्थ एक दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती । **—संस्कारविधि विवाह प्रकरण**

☐ विवाह अपने अपने वर्ण में होना चाहिये परन्तु वर्ण-व्यवस्था गुण, कर्मों के अनुसार होनी चाहिए, जन्म मात्र से नहीं । **—संस्कारविधि विवाह प्रकरण**

☐ जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही

सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़, पूर्ण जवान हो, परस्पर परीक्षा करके जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है।
—संस्कारविधि विवाह प्रकरण

☐ वधू-वर एक दूसरे के गुण-कर्म-स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें—दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्यमधुरभाषण कृतज्ञता, दयालुता, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह; अहङ्कार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, कपट, द्यूत, चोरी, मद्य-मांसादि दोषों का त्याग, गृह कार्यों में अति चतुरता हो।
—संस्कारविधि विवाह प्रकरण

☐ यदि स्त्रियां दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं और होंगी भी, इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियाँ श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं। इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम होके अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए। **—संस्कारविधि गृहाश्रमप्रकरण**

टीका दहेज

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते॥

मनु. ३/३१

अर्थ—वर की जातिवालों [परिवारवालों] को धन देकर और कन्या को भी देकर विधि द्वारा कन्या प्रदान करना 'आसुर विवाह' कहलाता है।

उपरोक्त श्लोक मनुस्मृति का है। महाराज मनु ने आठ प्रकार के विवाहों की परिभाषा की है। जिनमें चार उत्तम हैं ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य। बाकी के चार प्रकार के विवाह मनुजी की दृष्टि में दुष्ट और निन्दित हैं। ये दुष्ट विवाह हैं—आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। ऊपर लिखी परिभाषा 'आसुर विवाह' की है। टीका दहेज की प्रथा इसी आसुरी विवाह में हो सकती है। लड़कीवाले से, लड़की के साथ-साथ टीका दहेज के नाम पर धनदौलत लेना सरासर आसुरी वृत्ति है।

यहाँ एक बात स्पष्ट है कि केवल अपनी लड़की को स्वेच्छा और प्रसन्नता से यथाशक्ति दिया जानेवाला वस्त्र, आभूषण अच्छा माना गया है, जैसे कि ब्राह्म विवाह की परिभाषा है। कन्या ने जिस विद्वान्, उत्तम व सुशील पुरुष को पसन्द किया है, उस पुरुष का सत्कार करके कन्या को अलङ्कृत करके विवाह करना 'ब्राह्म विवाह' है। दूसरा 'दैव विवाह' है जिसमें विद्वानों की उपस्थिति में विद्वान् पुरुष के साथ वस्त्र-आभूषण से सुशोभित करके कन्या को देना है। ब्राह्म और दैव दोनों उत्तम विवाह माने गये हैं, जिनमें लड़की को अलङ्कृत करने [अलङ्कृतां कन्याम्] का विधान है। कुछ भी न ले-देकर विवाह करना 'प्राजापत्य विवाह' है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में मनुस्मृति के इस प्रकरण को बड़े विस्तार से उद्धृत किया है। पाणिग्रहणविधि में कहीं पर भी धन के लेन-

देन की चर्चा नहीं है। कन्या के माता-पिता जहाँ वर के हाथ में अपनी कन्या का हाथ सौंपते हैं, उसी समय एक दुधारु गाय देने की प्रथा है। इस प्रथा को लोगों ने नगण्य करके कुप्रथाओं से सामाजिक वातावरण दूषित कर दिया है। स्वामीजी के निर्देश पर यदि ध्यान दिया जाय तो टीका-दहेज की घोर कुप्रथा पनप नहीं सकती।

आर्यसमाज आरम्भ से सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्षशील है। अत: टीका-दहेज के उन्मूलन का दायित्व आर्य-समाज पर विशेष रूप से है। दहेज के महादानव ने समाज की सुख-शान्ति का अपहरण कर लिया है। न जाने कितनी कलियाँ खिलने से पूर्व ही मुरझा जाती हैं, न जाने प्रतिदिन कितनी लता, मधु और कुसुम दहेज-दानव की भेंट होकर समाज के हितचिन्तकों की चेतना को झकझोर रही हैं और हमारी न्यायनिष्ठा को चुनौती दे रही हैं। □

शास्त्रार्थ : शङ्का-समाधान

"अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।" आर्यसमाज का यह नियम दो स्तर पर लागू होता है। पहला स्तर है अक्षर-ज्ञान सम्बन्धित, जिसके अनुसार गुरुकुल, स्कूल कॉलेजों के माध्यम से सबको शिक्षित किया जाय। कोई अनपढ़ न रहे। दूसरा स्तर आध्यात्मिक-ज्ञान से सम्बन्धित है। यह ज्ञान ग्रन्थों के स्वाध्याय, विद्वानों के सत्संग से होता है। विद्वानों के विचारने के ढंग से अथवा साधारण मनुष्यों को विविध प्रकार से

प्राप्त जानकारियों से जो विरोधाभास हो जाता है, उन सबका इलाज है शङ्का, समाधान और शास्त्रार्थ।

आर्यसमाज इस प्रथा को चालू रखना चाहता है। सत्य के जिज्ञासुओं को यह अच्छा भी लगता है। किन्तु पक्षपात और मताग्रही लोगों ने इस प्रथा को वैमनस्य का कारण बताकर उपेक्षित कर दिया।

साहित्य के क्षेत्र में समालोचना के महत्त्व को सभी विचारणीय स्वीकारते हैं, राजनीति के क्षेत्र में भी समालोचना [सम्यक्+आलोचना] उसे शुद्ध बनाती है। शासक को नियन्त्रित रखती है। धार्मिक क्षेत्र में भी समालोचना का महत्त्व असन्दिग्ध है। धार्मिक मान्यताओं का परिमार्जन शास्त्रार्थ एवं शङ्का-समाधान की प्राचीन वैदिक पद्धति को ही अपनाने से सम्भव है। □

खण्डन-मण्डन

बहुत से लोगों को यह शिकायत रहती है कि आर्यसमाज खण्डन-मण्डन बहुत करता है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो आर्यसमाज की बात सुनने से बचे रहना चाहते हैं, सिर्फ इसलिए कि धर्म सम्बन्धी बातों में उनको क्यों? क्या? जानने की रुचि नहीं। आर्यसमाज का निर्माण इसी क्यों? क्या? के जानने का उद्देश्य लेकर हुआ। आर्यसमाज के दस नियमों में आधे से अधिक नियम इस प्रकार के हैं कि जिनके पालन से खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया स्वतः बन जाती है।

स्वामी दयानन्द के खण्डन के तरीकों पर बहुत से कथित

विद्वानों को भी रोष है। किन्तु वे लोग शान्त चित्त और निष्पक्ष होकर ऋषि के लेख और ग्रन्थ पढ़ें तो उन्हें इस खण्डन के पीछे महर्षि की सहृदयता और अपनेपन का अनुभव हो सकेगा। सत्यार्थप्रकाश की भूमिका और अनुभूमिकाओं में उन्होंने कई स्थानों पर लिखा है कि मेरा अभिप्राय किसी का मन दुःखाना नहीं है, केवल सत्य-असत्य को दर्शाना है। उन्होंने यह भी लिखा है कि मेरे लिखे पर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे तथापि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य अभिप्राय समझेंगे। ऋषि को अपने उपदेशों में जो दुर्व्यवहार मिलता था, उसको सहते हुए भी वे अपने उद्देश्य पर अडिग रहे। बड़े-बड़े मठाधीशों व राजा-महाराजाओं के प्रलोभन उन्हें डिगा न सके। उनके खण्डन से खिन्न होकर हिन्दुओं ने जब उन्हें रहने का स्थान नहीं दिया तो मुस्लिम बन्धु के अतिथि बनकर कृतज्ञताज्ञापन के रूप में उन्हीं के दोषों की समीक्षा करने लगे।

महर्षि ने असत्य के विरुद्ध इतना कड़ा रुख क्यों और किस अधिकार से अपनाया, इस पर भी विचार करना आवश्यक है—

- ☐ गुरुवर स्वामी विरजानन्द के आदेश का पालन करना था, जिसके लिये उन्होंने 'गुरुदक्षिणा' के रूप में अपना जीवन अर्पित कर दिया था।
- ☐ ऋषि ने लगभग तीस वर्षों के भारत-भ्रमण में अज्ञान और पाखण्ड का बोलबाला अपनी आँखों से देखा था। लगभग तीस हजार आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन ने उनके ज्ञान भण्डार को अथाह कर दिया था।
- ☐ विश्व के [तत्कालीन] दो अरब मनुष्यों के सामने एक

लंगोटधारी संन्यासी अपने पूरे विद्याबल और आत्मबल के साथ सिंह की तरह दहाड़ रहा था। यदि वह दहाड़ न लगाते तो लोग बजाय सुनने के अन्य सन्तों की भाँति एक पृष्ठ नये सन्त का जोड़ देते कि एक स्वामी दयानन्द हो गये हैं, जिन्होंने निराकार परमेश्वर की पूजा पर बल दिया, इससे अधिक कुछ न होता। उदार हिन्दू जाति निरीश्वरवादी बुद्ध को भी अवतार मानकर चुप रह सकती है तो वह जाति-आस्तिक दयानन्द की बातें सुनने की तकलीफ क्यों करती ? इन सब परिस्थितियों में ऋषि का डंके की चोट खण्डन करना, शास्त्रार्थ के लिए ललकारना और विज्ञापन प्रसारित करना सर्वथा युक्तियुक्त था।

☐ ऋषि का पक्ष सत्य पर आधारित था। उनका कहना था कि जिन लोगों ने वेदों के धर्म को उलटा दिया है अब मैं उन लोगों की उलटी मान्यताओं को उलटाकर सुलटा कर रहा हूं। लोगों की दृष्टि में उनका वह उलटना खण्डन था।

आर्यसमाज अपने नियमों और ऋषि के आदर्श को लेकर कार्यक्षेत्र में है, चूंकि आज हम आर्यों में अपनी मान्यताओं के प्रति दृढ़तापूर्वक आचरण नहीं है, अतः वर्तमान में किया जा रहा खण्डन प्रभावी नहीं हो रहा। आवश्यकता है हम अपने मण्डन पक्ष [विधेयात्मक कार्यक्रम] को ठीक से श्रद्धापूर्वक अपनाकर खण्डन करने के अधिकारी बनें। ☐

मूर्तिपूजा

ईश्वर निराकार है, उनकी मूर्ति बन नहीं सकती। निराकार परमात्मा की भक्ति किसी आकार द्वारा सिद्ध भी नहीं हो सकती। आत्मा निराकार है। निराकार आत्मा को मन इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सुख-दुःख आदि की अनुभूतियां दिलाता है। और निराकार प्रभु को हृदय में, निराकार आत्मा को अपने सामर्थ्य से ग्रहण करता है।

मूर्तिमान् परमेश्वर को देखने के लिए भी मनुष्यकृत मूर्तियां बनाना आवश्यक नहीं। सृष्टि में चींटी से लेकर हाथी तक, पत्ते से लेकर बड़े वट वृक्ष तक, रेगिस्तानी बालूकण से लेकर पर्वतों तक, जलबिन्दु से लेकर बड़े-बड़े समुद्रों तक की रचनाएँ उस परम प्रभु के कर्तृत्व का दर्शन कराती हैं, पर यह सब प्रभु-उपासना के स्थान पर नहीं आ सकते। इनको देखकर प्रभु के प्रति भक्ति व प्रेम उमड़ता है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक होने से मूर्तियों में भी व्यापक है, यह ठीक है, पर मूर्ति में हमारी [भक्त की] आत्मा व्यापक नहीं होने से मूर्ति में प्रभुदर्शन नहीं हो सकता। ऐसा स्थान जहां आत्मा और परमात्मा [भक्त और भगवान्] दोनों विद्यमान् हैं केवल हृदय मन्दिर ही है। मूर्तिमान् परमात्मा की वह व्यापकता हमारे हृदय में बैठे आत्मा में नहीं समा सकती। वहां पहले से ही परमात्मा व्यापक है, जो शुद्धान्तःकरण से जाना जाता है।

आर्यसमाज मूर्ति-पूजा का विरोधी है, मूर्तियों का नहीं। अपने महापुरुषों की, आचार्यों एवं पितरजनों की मूर्तियां रखना

अच्छा है और इनसे भावी सन्तति को जताने के लिए लाभ ही है, किन्तु इनकी उपयोगिता रखने तक है। जड़ पदार्थ होने से इनकी पूजा आदि करने का कोई औचित्य नहीं। आर्यसमाज मूर्तिपूजक नहीं है, किन्तु वह मूर्तिभञ्जक भी नहीं है। अपने गौरवमय इतिहास में इसने मन्दिरों, शिवालयों की रक्षा के लिए सङ्घर्ष भी किये हैं।

आश्चर्य यह है कि मूर्तिपूजा के बहाने ऐसे-ऐसे काल्पनिक और वीभत्स चित्रों की पूजा का विधान मूर्तिपूजा के सहारे जीविका चलानेवाले तथाकथित भक्तों ने किया है जो किसी भी प्रकार ईश्वर के गुणों का तो क्या मानवीय गुणों का भी कोई उपयोगी अंशदान देने में सर्वथा असमर्थ है। प्रत्युत मनुष्य के हृदय में अत्यन्त अज्ञान व अन्धकार का ही प्रादुर्भाव करती है। मूर्ति-पूजा की चित्र प्रणाली व उनके पूजा-प्रकारों पर तनिक भी विवेक-पूर्वक विचार करने से मूर्तिपूजा की व्यर्थता व उससे मानव जाति के घोर हानिकारक परिणामों से मन को उद्बोधन होता है। भारत के घोर पतन का कारण ही मुख्यतया मूर्ति व मन्दिरों पर भारतीय समाज की सारी शक्ति का अपव्यय है। □

स्वामी दयानन्द का चित्र

मूर्तिपूजा के समर्थक बहुधा आर्यसमाजी बन्धुओं से प्रश्न किया करते हैं कि यदि आप मूर्तिपूजा नहीं मानते हो तो स्वामी दयानन्द का चित्र घरों और आर्यसमाजों में क्यों लगाते हो? उत्तर में निवेदन है कि—

- ☐ आर्यसमाज मूर्ति की पूजा का विरोधी है, मूर्ति या चित्र का नहीं।
- ☐ अपने पितर जनों, महापुरुषों और नेताओं के चित्र आर्यसमाजी अपने घरों में बड़ी श्रद्धा से लगाते हैं, क्योंकि उनके लगे रहने से उन पूज्य जनों के उपकार, विशेषतायें स्मृति में रहती हैं, साथ ही आनेवाली पीढ़ियाँ भी सहज में ही उनके जीवन से परिचित और उनकी विशेषताओं से प्रेरित होती हैं ।
- ☐ किसी होम्योपैथ डॉक्टर के चैम्बर में डॉ. हनीमैन और प्राकृतिक चिकित्सक के यहाँ डॉ. लुईकुने के चित्र बहुधा देखे जाते हैं । हम सभी जानते हैं कि वहाँ उन चित्रों की पूजा नहीं होती । चिकित्सा जगत् को एक नया वरदान देनेवाली उन विभूतियों का चित्र लगाना वहाँ एक प्रकार की कृतज्ञता के प्रकाशन के रूप में ही होता है । इसी प्रकार संसार के धार्मिक क्षेत्र में एक नई दिशा देनेवाले उस युगपुरुष ऋषि के चित्र लगाना भी कृतज्ञता का प्रकाशन है, जिसके उपकारों से आर्य-समाज ही नहीं समस्त संसार उपकृत और ऋणी है ।
- ☐ हाँ, आर्यसमाजी को स्वामी दयानन्द के चित्र लगाने की अनिवार्यता नहीं है, वह उसकी इच्छा और रुचि पर निर्भर है । आर्यसमाज मन्दिर में भी ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है, किन्तु समस्त आर्यों की सामूहिक गतिविधियों का स्थल होने और स्वामी दयानन्द के उद्देश्यों का प्रचारक-प्रसारक केन्द्र होने से परिचयात्मक

तौर पर वहाँ उनका एवं उनके संदेश को जनता तक पहुँचानेवाले महानुभावों के चित्र समाज-मन्दिरों में लगाना कृतज्ञता का प्रकाशन और प्रचार का साधन है। □

मानो तो देव नहीं तो पत्थर

मूर्तिपूजा के समर्थक और कोई युक्ति न होने पर, अब इसी एक भावना का सहारा लेते हैं। किन्तु इस विश्वास का भी कोई युक्तियुक्त समाधान नहीं। यह इसी प्रकार है कि किसी को कंकर खाने को दिया जाय, जब वह न खा सके तब समझाया जाय कि मानो तो शक्कर नहीं तो कंकर। जितना भेद कंकर और शक्कर में है उससे कहीं अधिक पत्थर और देव में है। पत्थर जड़ है और वह महादेव चेतन। पत्थर को हमारी आत्मा तक पहुँचाया नहीं जा सकता जबकि देव की सर्वव्यापकता से आत्मा ओत-प्रोत है। पत्थर मनुष्य की बनाई हुई कृति है, जिसमें कुछ भी क्रिया नहीं। इससे अच्छा साधन महादेव की बनाई हुई कृति है, जिसके एक-एक कृत्य की खोज में उसके ज्ञान को जाना जाता है। कोई मनुष्य शर्बत के स्थान पर नशीली दवा पीकर इसलिए नशे से रहित नहीं हो सकता कि उसने शर्बत मानकर पिया था। कोई भी जीव दु:ख की भावना नहीं करता फिर भी दु:ख आ जाते हैं।

आर्यसमाज कहता है कि भावना की सच्चाई बुद्धिपूर्वक करने से प्राप्त होती है। शिक्षा प्राप्त करे मुनीमी की और भावना बना ले डॉक्टर बनने की, यह कहाँ तक सम्भव है। बस ऐसी ही सम्भावना पत्थर में देव प्राप्त करने की है। □

चमत्कार

संसार में जितने मतमतान्तर फैले हुए हैं उन सबकी विचित्र मान्यताओं और तथाकथित भगवानों के साथ घटित चमत्कारपूर्ण घटनाओं का अम्बार लगा है। ऐसा लगता है चमत्कारों की प्रतिस्पर्धा में सबने अपनी-अपनी गप्पें एक से बढ़कर एक हांकी हैं। वेद के आलङ्कारिक उदाहरणों को भी न समझकर अर्थ का अनर्थ कर पुराणों में उन्हें चमत्कारपूर्ण किस्सों के रूप में वर्णित कर दिया गया। योगशास्त्र को चमत्कारी विधियों से आच्छादित कर दिया। पत्थर की स्त्री को अहल्या बना देने जैसे उदाहरण अपने वैदिक साहित्य में भी डाल दिये गए हैं।

आर्यसमाज इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण गप्पों से सावधान करके अपनी भारतीय संस्कृति व इतिहास को बुद्धिगम्य और वास्तविक बनाना चाहता है। □

गायत्री मन्त्र (गुरुमन्त्र)

वेदों में बीस हजार से अधिक मन्त्र, हैं उनमें से एक गायत्री मन्त्र है। क्योंकि यह मन्त्र गायत्री छन्द में है, इसी से इसको 'गायत्री मन्त्र' कहते हैं। गायत्री छन्द में और भी अनेक मन्त्र हैं, पर गायत्री नाम से यह मन्त्र प्रसिद्ध हो गया है। वेद में इस मन्त्र का देवता 'सविता' है अतः इसका एक नाम 'सावित्री मन्त्र' भी है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र को महामन्त्र भी कहा है। इससे तात्पर्य ऐसा ही है जो दैनिक किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञ,

देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ को पञ्चमहायज्ञ कहे जाने से है। पञ्चमहायज्ञ प्रतिदिन और प्रत्येक निवास-स्थान पर होने से बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। इसीलिये कभी-कभी किये जानेवाले यज्ञों की तुलना में प्रतिदिन किये जानेवाले यज्ञ महायज्ञ हैं। इसी प्रकार बालक के विद्यारम्भ से आचार्य द्वारा दिया गया यह गुरुमन्त्र अर्थात् गायत्री मन्त्र प्रत्येक द्विज के लिए दैनिक स्मरण और मनन का मन्त्र है। सर्वाधिक बोले जाने और महाव्याहृतियों से समन्वित होने से यह मन्त्र 'महामन्त्र' है।

जिस प्रकार किसी राष्ट्र का एक राष्ट्रीय गान निश्चित होता है, भले ही उस गान के समकक्ष अथवा बढ़कर दूसरे गान उपलब्ध हों, इसी प्रकार गायत्री मन्त्र को हम आर्यों ने 'गुरुमन्त्र' का नाम दिया है। वैदिक पद्धति में जब बालक शिक्षा प्राप्ति के लिये आचार्य की गोद में जाता है तब आचार्य सर्वप्रथम इसी वेद मन्त्र को अपने शिष्य से कहला कर उसे विद्याधिकारी स्वीकार करता है। मन्त्र बड़ा सरल है, भावना और कामना बहुत ऊँची है। इस गुरुमन्त्र में प्रभु के प्रति समर्पित होने की भावना है तथा जीवन की सबसे बहुमूल्य वस्तु 'उत्तम बुद्धि' प्राप्ति की याचना है।

यह याचना व्यक्तिगत अर्थात् एकवचन में न होकर बहुवचन में की गई है। इसी भावना को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का नवां नियम इस प्रकार है—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"

जिस प्रकार ईश्वर की सृष्टि में सूर्य, वायु, जल आदि पर सबका समान अधिकार होता है इसी प्रकार प्रभु के चरणों में

समर्पित होने और सद्बुद्धि की प्रार्थना करने का अधिकार भी मनुष्य मात्र को है। इसी प्रेरणा से आर्यसमाज इस मन्त्र को सर्वाधिक प्रचारित करता है। आर्यसमाज की मान्यता है कि इस प्रकार के वेद मन्त्रों के लिए समय, स्थान, ऊँच, नीच, बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष आदि भेद अवाञ्छनीय व असङ्गत हैं।

कोई मन्त्र सिर्फ बोल देने से शुभ-अशुभ फल नहीं दे सकता, अपितु मन्त्र में निहित भावना और तदनुकूल अपने अपने आचार-विचार बनाना ही फल-प्राप्ति का कारण बनता है। इस बात को समझाते और प्रचारित करते हुए भी आर्यसमाज इस मन्त्र को जन जन तक पहुँचाने को कर्तव्य समझता है। ताकि युगों-युगों से बनी यह मिथ्या धारणा कि गायत्री मन्त्र का उच्चारण केवल द्विजों को छोड़कर बाकी सबके लिये वर्जित है सदा-सदा के लिये समाप्त हो जाय और कालान्तर में लोग इस मन्त्र की भावना के अनुकूल बनने-बनाने की प्रक्रिया भी अपनावें। इस मन्त्र के भावों के मनन और चिन्तन से संसार में बुद्धिवाद व ज्ञान-विज्ञान का प्रसार होकर जन-जन में सुख-समृद्धि व उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। □

गङ्गा

आर्य, गङ्गा नदी को नदी मानते हैं। गङ्गा के जल में जो गुण हैं, उसको भी मानते हैं, किन्तु पापों से छुड़ाने व दुःखों से तारनेवाली नहीं मान सकते।

गङ्गा नाम से वेदों में जो शब्द आये हैं, वे शरीर के भीतर नाड़ियों के नाम में प्रयुक्त हुए हैं। नाड़ियों के द्वारा योगाभ्यास पुरःसर परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य दुःखों से तर जाते हैं। इस प्रकार के वास्तविक अर्थों को छोड़कर नदी आदि को तीर्थ मन लिया गया। □

गाय

मानव के लिये जन्म के साथ-साथ माता के स्तनों में दूध की व्यवस्था करके करुणामय प्रभु ने बहुत बड़ा उपकार किया है। माता के स्तन से दुग्ध-ग्रहण की अवस्था एवं अधिकार छूट जाने के पश्चात् आयु भर के लिये दूध की व्यवस्था दुधारु पशुओं के माध्यम से उसी पालक प्रभु से प्राप्त हुई है। बकरी, भेड़, ऊँटनी, भैंस और गाय ये सभी पशु अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार दूध देनेवाले हैं। मनुष्य को दूध की आवश्यकता किसी न किसी रूप में रहती है। अतः इन पशुओं में मातृत्व की भावना बनती है। जहाँ तक गाय का प्रश्न है वह सर्वाधिक श्रेष्ठ पशु है। गाय का दूध गुणकारक, बुद्धिवर्धक और बलवर्धक होने के साथ-साथ गाय का गोबर और मूत्र भी ओषधीवत् काम आता है। इन सब कारणों से आर्यसमाज गौ आदि पशुओं की रक्षा के कार्य को बहुत अधिक महत्त्व देता रहा है। आर्यसमाज का दैनिक 'देवयज्ञ' सदैव घी की अपेक्षा रखता है। ऐसे उपकारी पशुओं की हत्या को आर्यसमाज कृतघ्नता जैसा जघन्य अपराध मानता है। जिस प्रकार वृद्ध एवं असमर्थ माता-पिता की सेवा करना सन्तानों

का धर्म बनता है, उसी प्रकार बूढ़े और दूध न देनेवाले पशुओं की रक्षा का दायित्व भी कम नहीं होना चाहिए।

आर्यसमाज को गर्व है कि इसके संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना के साथ साथ अर्थात् लगभग १०० वर्ष पूर्व ही ब्रिटिश साम्राज्य में गोवध के प्रतिबन्ध पर आवाज उठाई थी। ऋषि ने समस्त भारत से लाखों लोगों के हस्ताक्षर इकट्ठे करके ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया के पास गौ-हत्या पर प्रतिबन्ध हेतु आवेदनपत्र भेजने का अभियान छेड़ा था। किन्हीं कारणों से वह प्रयास सफल न हो सका। भारत के अंग्रेज वायसरायों से इस मुद्दे पर ऋषि ने चर्चा की थी। 'गोकरुणा-निधि' नामक पुस्तिका ऋषि की एक अद्‌भुत रचना है। गौ आदि पशुओं की रक्षा व उपयोगिता को आर्थिक दृष्टि से लाभकारी सिद्ध करने का उनका दृष्टिकोण आज के अर्थशास्त्री के लिए शोध का विषय है। पशुओं की रक्षा के लिये इस पुस्तक में की गई मार्मिक अपील एक बार निष्ठुर व्यक्ति को भी कुछ सोचने को बाध्य कर देती है। काश! ऋषि का वह स्वप्न पूरा हो जाता।

वर्तमान भारत में गौ-हत्या पर प्रतिबन्ध के लिये किये जा रहे प्रयासों में आर्यसमाज सदैव अग्रगण्य रहा है। अब तक हो रही असफलता में एक मुख्य कारण यह भी है कि गाय को छोड़कर बाकी अन्य पशुओं का मांस खानेवाले तथाकथित गौरक्षकों की आवाज प्रभावशाली नहीं हो सकती। आर्यसमाज की आवाज की तेजस्विता में आज की राजनीति रुकावट बन जाती है। सत्ता और वोटों के लोभ ने आर्यसमाज की क्षमता को क्षीण कर दिया है। □

जीव

जिस प्रकार ईश्वर अनादि, अजन्मा और अमर है उसी प्रकार जीव अर्थात् आत्मा भी अनादि, अजन्मा और अमर है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। पूरे ब्रह्माण्ड में व्यापक होने से ईश्वर को पुरुष कहते हैं। मनुष्य के शरीर में आत्मा के आने पर मनुष्य की भी पुरुष संज्ञा है। आत्मा परिच्छिन्न है, अल्पज्ञ है और परमात्मा विभु है, सर्वज्ञ है। आत्मा परमात्मा का पुत्र-पिता, सेवक-स्वामी, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। आत्मा अनादि काल से अपने कर्मों द्वारा उत्थान-पतन के मार्गों से चलता रहता है, अन्तिम मञ्जिल उसकी मोक्ष प्राप्ति की है। जीव को कर्मानुसार फल देनेवाला परमात्मा सदैव जीव के साथ ही रहता है। पर जीव को यह अनुभूति बहुत पुरुषार्थ और शुद्धान्तःकरण बनाने के बाद हो पाती है। साधारण अवस्था में हम सब अपने शरीर में बैठे आत्मा को भी नहीं पहचान पाते।

परमपिता परमेश्वर ने जीव की सुख-सुविधा के लिए एवं ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए पूरे साधन दिए हैं। साधनसम्पन्न जीव उन साधनों को कहाँ तक अपनाकर अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के फल को प्राप्त करता है, यह उसके पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। कर्मों के आधार पर जीव—पशु-पक्षी आदि योनियों में जाकर बुरे कर्मों का फल अर्थात् भोग भोग कर फिर मनुष्य योनि के कर्मक्षेत्र में आता है। योनियों का यह चक्र चलता ही रहता है। फल देनेवाला न्यायाधीश प्रभु एक परीक्षक की भाँति परीक्षार्थी की सही और गलत चेष्टायें देखता रहता है। आचार्य की भांति शिष्य [जीवात्मा] को वेदज्ञान के रूप में

अच्छे-बुरे की पहचान भी देता है, पर फिर भी कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है। जिस प्रकार प्रश्न-पत्र हल करने में शिष्य या विद्यार्थी को स्वतन्त्रता है और उसी के अनुसार वह अच्छा या बुरा [कर्मफल] भी प्राप्त करता है।

आर्यसमाज की मान्यता है कि जीव अपने पूरे पुरुषार्थ से अच्छे कर्म करता हुआ ईश्वर से सहाय की प्रार्थना करता है तब ईश्वर भी सहायक होता है। ईश्वर और जीव अलग-अलग सत्तायें हैं।

जैनियों की भांति जीव कभी ईश्वर नहीं बन सकता और न ही ब्रह्मवादियों की भाँति ईश्वर का अंश ही जीव बनकर मायावी खेल खेलता है।

ईसाई और मुसलमानों के अनुसार खुदा ने कहा कि 'हो जा', बस हो गया, ऐसा भी जीव नहीं है। यह ईश्वर की भाँति ही अनादि और स्वतन्त्र सत्ता है। हाँ, ईश्वर एक है, जीवात्मा अनेक, ईश्वर सर्वज्ञ है, जीवात्मा अल्पज्ञ, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, जीवात्मा अल्पशक्तिमान्, ईश्वर कर्म-फल प्रदाता है, जीवात्मा कर्म-फल भोक्ता है। □

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

परमात्मा ने जीवों के कर्मफल भुगतान के लिए जो व्यवस्था रखी है वह ऐसी शृङ्खलाबद्ध है कि अशुभ कर्मों के दण्डस्वरूप तथा शुभ कर्मों के करने के लिए मानव जीवन में बार-बार आने का अवसर मिलता रहता है। मानव को छोड़कर बाकी जो

योनियाँ हैं वे सब भोगयोनि हैं, जिनमें अधिकांश किए हुए पापों का दण्ड-भुगतान होता है। मानवयोनि में कर्म और भोग सम्मिलित हैं। अच्छे कर्मों से जीवन श्रेष्ठ बनता है और अच्छे सुखों की प्राप्ति करता है। श्रेष्ठता की ओर बढ़ते-बढ़ते ही एक समय मोक्ष-प्राप्ति का अवसर भी आता है, जिसमें परमात्मा के सान्निध्य का अवर्णनीय सुख मिलता है।

आर्यसमाज को पुनर्जन्म की व्यवस्था पर अटूट विश्वास है। विश्वास का कारण और युक्ति निम्न प्रकार है—

☐ संसार में विभिन्न प्रकार के प्राणी, उन्हें तरह-तरह के दु:ख और सुख देखने से विदित होता है कि इन सब विभिन्नताओं का कोई कारण अवश्य है। वह कारण पिछले किये गये कर्मों का फल है।

☐ केवल एक जन्म माननेवालों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है कि मृत्यु के पश्चात् कुछ होता ही नहीं है, तब वर्तमान जीवन में दुष्ट कर्म और शुभ कार्य करने का तात्पर्य क्या है?

☐ हमें अपने वर्तमान जीवन की सभी बातें याद नहीं रहतीं, विशेषकर बचपन की बातें। इसलिए पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहे तो इसमें आश्चर्य क्या है?

☐ जन्म-जन्मान्तर की बातें मनुष्य को याद नहीं रहतीं। यह बहुत अच्छी व्यवस्था है। यदि पुराने रिश्ते-नाते, वैर, विरोध, प्रेम और आकर्षण याद रहते तो जीना दूभर हो जाता। ☐

प्रारब्ध

मनुष्य के जन्म, जाति व भोग की प्राप्ति का कारण हमारा जन्मान्तरण है।

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा:" [योगदर्शन पाद २ सूत्र १३] हमने जिस वातावरण में जन्म लिया है, उस वातावरण में आने का कारण हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। इस जन्म में भी अपने पुरुषार्थ के उपरान्त जो कुछ सहयोग व बाधायें मिलती हैं, वह भी किन्हीं कर्मों का फल हैं। इस प्रकार के फल को 'प्रारब्ध' कहते हैं, जिन्हें हम सञ्चित कर्म भी कहते हैं। इन सञ्चित कर्मों का भण्डार पुरुषार्थ करते रहने से बना रहता है। अत: प्रारब्ध से बढ़कर पुरुषार्थ है, जिससे क्रियमाण और सञ्चित कर्म बनते हैं।

आर्यसमाज पुरुषार्थ पर अधिक बल देता है, क्योंकि प्रारब्ध अपना काम आप करता है उसे हम बदल नहीं सकते। और पुरुषार्थ अपने हाथ में है। पुरुषार्थ के बल पर प्रारब्ध से मिलनेवाले फल को हंसते-हंसते सहने की क्षमता इसी प्रेरणा से मिलती है। □

जन्म-पत्रिका

"जरा विचार तो करो कि सारे महाभारत भर में एक स्थान पर भी जन्मपत्रिका का वर्णन नहीं आया है। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्ष-विद्या में नहीं

है। यह स्पष्ट है।" उपर्युक्त वचन महर्षि दयानन्द सरस्वती के हैं, जो उन्होंने अपने पूना प्रवचन में कहे थे।

जन्मपत्रिका के सम्बन्ध में ऋषि ने अपना पक्ष सत्यार्थ-प्रकाश में दो स्थानों पर प्रस्तुत किया है।

द्वितीय समुल्लास में उन्होंने बच्चों के निर्माण पर लिखते हुए बच्चों के जन्मपत्र आदि बनाने का घोर विरोध किया है। जन्मपत्र की प्रक्रिया में कैसे कैसे आतङ्कित और आशङ्कित किया जाता है, इसका उदाहरण देते हुए ऋषि कहते हैं कि "इसका नाम जन्मपत्र नहीं शोकपत्र रखना चाहिए।"

ग्यारहवें समुल्लास में ऋषि लिखते हैं कि—"बहुत से ज्योतिषी लोग अपने लड़के-लड़की का विवाह ग्रहों की गणितविद्या के अनुसार करते हैं। पुनः उनमें विरोध वा विधवा अथवा मृतस्त्री [=विधुर] हो जाता है। जो फल सच्चा होता तो ऐसा क्यों होता ? इसलिए कर्म की गति सच्ची और ग्रहों की गति सुख-दुःख भोग में कारण नहीं।"

स्पष्ट है कि आर्यसमाज इस प्रकार के फलित ज्योतिष के नाम पर बननेवाले जन्मपत्र, टीपनी एवं कुण्डली आदि पर विश्वास नहीं करता, न किसी बुद्धिजीवी और विचारशील व्यक्ति को करना ही चाहिए। □

मुक्ति से पुनरावृत्ति

मुक्ति माननेवालों ने मुक्ति को जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि माना है। इसमें जीव किस प्रकार विचरण करता है। अपनी-अपनी मान्यताओं की कुछ विभिन्नताओं के बावजूद परमानन्द की प्राप्ति सब मानते हैं। आर्यसमाज मुक्ति या मोक्ष को बहुत अधिक महत्त्व देता है। जीव का पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम के अनन्तर मोक्ष की प्राप्ति करने में है। एक युक्तियुक्त दृष्टिकोण महर्षि दयानन्द का यह है कि यह मुक्ति भी अनन्त नहीं है। जीव को पुनः अपने कर्मक्षेत्र में आना होता है। ऋषि की गणनानुसार मुक्ति की अवधि ३६ हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय जितना काल है। ऋषि का तर्क निम्न अनुसार है—

- □ किसी भी सीमित कर्म का फल असीमित नहीं हो सकता।
- □ जीव अनादि पदार्थ है अतः मोक्ष में जाकर सान्त नहीं हो सकता।
- □ कितना भी बड़ा कोई भण्डार हो, यदि उसमें से केवल निकलता ही जाय तो एक दिन खाली होगा ही। इसी प्रकार यदि सृष्टि के जीव मोक्ष से कभी नहीं लोटेंगे तब एक समय सृष्टि जीवविहीन हो जावेगी।
- □ थोड़े से सुख के लिए जीव अथक परिश्रम करता है, तब ३६ हजार बार सृष्टि-रचना और प्रलय-काल पर्यन्त ईश्वर के सान्निध्य में रहना बहुत बड़ी सफलता नहीं है क्या ?
- □ इतने लम्बे काल को 'अनन्त काल' कह दिया जाता है। वस्तुतः मुक्ति सान्त अर्थात् अन्तवाली है।

☐ जीव की सर्वदा की मुक्ति से जीव की स्वतन्त्रता न केवल समाप्त हो जाती है अपितु उसका अस्तित्व ही अहेतुक बन जाता है। ☐

भूत-प्रेत

प्रत्येक मरा हुआ प्राणी 'भूत' है। जो वर्तमान में नहीं है और पहले भी, उसकी 'भूत' संज्ञा हो जाती है। लौकिक जगत् में जो कल तक मन्त्री था आज नहीं है, उसे भी भूतपूर्व मन्त्री कहा जाता है। मरणोपरान्त मिलनेवाली यह 'भूत' संज्ञा कोई योनि-विशेष नहीं है। भूत के नाम पर विभिन्न प्रकार की कथाओं के पीछे जो रहस्य होता है, उसके कई कारण हो सकते हैं, यथा—

☐ भूत के नाम पर सम्बन्धित व्यक्तियों को आतङ्कित करके स्वार्थ सिद्ध करना।

☐ भूत-विषयक-साहित्य को प्रचलित रखने के लिए किस्से कहानियाँ बनाते रहना।

☐ मन की दुर्बलता एवं अन्धविश्वासग्रस्त मानव को उसी प्रकार के स्वप्न और भ्रमित विचार आते रहना।

☐ मानसिक बीमारियों से ग्रस्त रोगी के लक्षणों को भूत-प्रेत से पीड़ित की संज्ञा देना।

दूसरा जन्म ग्रहण करनेवाला प्रत्येक प्राणी 'प्रेत' है। न्याय-दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि मरकर पुनर्जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं। (**देखिए—न्यायदर्शन १/१९**)

आर्यसमाज भूत-प्रेत की कल्पित कथाओं को अनुचित ठहराता हुआ सब माता-पिताओं से आशा करता है कि वह अपने बच्चों में इस प्रकार के भीरु संस्कार न आने दें। समाचार पत्रों में आये दिन भूत-प्रेतों के मिथ्यात्व की कहानियां छपती रहती हैं। उससे भी जनता को अवगत कराते रहना चाहिये। □

शुभ-अशुभ

ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि शुभ है। उस परमपिता ने अशुभ मानकर कोई रचना नहीं की। बारह महीने, प्रत्येक महीने की तिथियाँ, सप्ताह के सात वार सभी उस ईश्वर की व्यवस्था के अन्तर्गत होने से शुभ हैं। पर यह कैसी बुद्धि है कि इन समय-विभागों को भी कुछ शुभ-अशुभ में बांट दिया है।

अमुक महीना अशुभ है, अमुक वार अशुभ है। इस प्रकार अशुभ करार दिये जानेवाले वारों आदि के प्रमाण में बड़ी-बड़ी घटनायें व कहानियाँ बना दी गई हैं। सब स्थानों, देशों अथवा प्रदेशों में ऐसी सूचियों में एकरूपता भी नहीं है। कहीं बुधवार का दिन अशुभ है तो दूसरी जगह बुधवार सर्वश्रेष्ठ है। यह मान्यता हिन्दुओं में ही नहीं, मुस्लिमों व ईसाइयों के अपने अलग शुभ-अशुभ हैं। ऐसा लगता है पृथ्वी की तरह तथाकथित धार्मिक लोगों के भगवानों के दरबार में शुभ-अशुभ के अलग-अलग विधान हैं।

आश्चर्य तो यह है कि बुद्धिजीवी वर्ग में भी यह मानसिक कमजोरी व्याप्त है। १३ के अङ्क को बहुत बदनाम किया हुआ है।

है। बड़े बड़े होटलों में कमरा नं. १३ की जगह १२-ए आदि करके रखते हैं।

आर्यसमाज इस प्रकार के अन्धविश्वास को नहीं मानता। किसके लिए कौन-सा दिन शुभ रहा अथवा अशुभ यह समय व्यतीत होने के पश्चात् ही अनुभव होता है। एक घर में नव शिशु के आगमन का दिन शुभ है, वही दिन दूसरे घर में किसी सदस्य के दिवङ्गत हो जाने से अशुभ बन सकता है। किसान के लिए वर्षा का दिन शुभ है, किन्तु वर्षा का वह दिन मिट्टी के बर्तन बनाने-वाले के लिए अशुभ बन जाता है। आर्यसमाज की मान्यता है कि सृष्टि का प्रत्येक प्रभात नया और शुभ सन्देश लेकर हमारे मध्य आता है। पहले से उसे अशुभ घोषित न करके हमें प्रत्येक नव-दिवस का अभिनन्दन करते रहना चाहिए। प्रभुदेव की प्रत्येक रचना और व्यवस्था का हृदय से स्वागत ही हमारी आस्तिकता की कसौटी है और इसी में हमारा कल्याण निहित है।

इस महान् देश के पतन, पराभव और दासत्व के मूल में इस 'शुभ-अशुभ' की अनर्थकारी मान्यता का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। विज्ञान और बुद्धिवाद के युग का तकाजा है कि अब तो इसे हमें त्याग ही देना चाहिए। □

पितरों का श्राद्ध—तर्पण

श्राद्ध का अर्थ है—श्रद्धापूर्वक अपने पितरों की सेवा करना।

तर्पण का अर्थ है—अपने कर्मों से अपने पितर लोगों को तृप्त करना अर्थात् सुख-युक्त करना।

पितर—अपने माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, सास-ससुर आदि कुटुम्बी, विद्वान् देव पुरुष और विद्यादान करनेवाले ऋषि तुल्य आचार्य लोग। श्राद्ध और तर्पण सदैव करते रहने के लिए पञ्चमहायज्ञों में एक यज्ञ 'पितृयज्ञ' रखा गया है। इस प्रकार के श्राद्ध और तर्पण जीवित महानुभावों के प्रति ही हो सकते हैं, मृतकों के नहीं। मृतकों के नाम पर श्राद्ध-तर्पण की परिपाटी को आर्यसमाज निरर्थक मानता है।

अमावस्या के साथ पितरों का सम्बन्ध इस कारण से है कि जिन पितर लोगों का श्राद्ध-तर्पण प्रतिदिन सम्भव न हो उनके लिये मास में एक बार का दिन निश्चित कर लिया जाय। □

तीर्थ व्रत

व्रत-पालन मनुष्य जीवन के उत्थान के लिए आवश्यक है। एक वेदमन्त्र है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

[यजु० १९/३०]

अर्थात् सत्य तक पहुँचने के लिए 'व्रत' एक सीढ़ी है। नियम का पालन करने के लिये दृढ़ संकल्प का नाम 'व्रत' है, जिसको आर्यसमाज आवश्यक मानता है। व्रत के नाम पर यदा-कदा उपवास रखके बहुत बड़ा दिखावा करना आर्यसमाज नहीं मानता। हाँ, यदि पेट में कुछ खराबी हो तो उदर-शोधन के विचार से उपवास रखा जा सकता है।

तीर्थ का अर्थ है—जिनसे जीवन दु:खरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों वे 'तीर्थ' हो सकते हैं। अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों को सुसम्पन्न करना तीर्थ-स्नान है, क्योंकि इनसे बहुत बड़े उपकार और सुख प्राप्त होते हैं। वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है, जिनके पढ़ने-पढ़ाने से सुख प्राप्त होता है। माता, पिता, आचार्य का नाम भी तीर्थ है इनकी सेवा करने से जीवन धन्य होता है। जल व स्थानविशेष तीर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें तारने की सामर्थ्य नहीं होती। तीर्थ शब्द करणकारक युक्त है, जबकि जल व स्थल आदि अधिकरण व कर्मकारक होते हैं। उनसे तैरने के लिए नाव, हाथ, पाँव आदि की चेष्टायें काम में आती हैं, अतः जल, स्थल तारक नहीं। □

मुहूर्त्त

किसी कार्य को आरम्भ करने, किसी यात्रा के लिए प्रस्थान करने एवं संस्कार कराने के लिये समय एवं तिथि आदि का निश्चय करना ही मुहूर्त्त है। आर्यसमाज के मुहूर्त्त पञ्चाङ्ग की राशि एवं ग्रहों की गणना पर आधारित नहीं होते। आयोजन से सम्बन्धित व्यक्तियों की सुविधा एवं ऋतुकाल को दृष्टि में रखकर आपस में विचार-विमर्श से मुहूर्त्त निकाल लिये जाते हैं। पञ्चाङ्ग आदि के आधार पर फलित ज्योतिषियों एवं पण्डितों द्वारा निकाले गये मुहूर्त्त पर आर्यसमाज की आस्था नहीं है। आर्यसमाज ऐतिहासिक तथ्यों से कहता है कि इस प्रकार की आस्था से देश को समय-समय पर बहुत हानि उठानी पड़ी। □

त्रैतवाद

सृष्टि की रचना में तीन कारण अनादि हैं। पहला कारण सृष्टि का द्रव्य अर्थात् 'प्रकृति' जड़रूप। इस पहले कारण को "उपादान कारण" कहते हैं। उपादान कारण के बिना कुछ बन नहीं सकता। उपादान कारण अवस्था भेद से बनता-बिगड़ता है। दूसरा "साधारण कारण" 'जीव' है जो परमेश्वर की सृष्टि के पदार्थों को लेकर नाना प्रकार के आविष्कार करता रहता है। प्रजनन आदि में जीव 'साधारण निमित्त कारण' है। तीसरा मुख्य "निमित्त कारण" "परमात्मा' है, जो सृष्टि को बनाने, धारण करने और प्रलय करने आदि व्यवस्थाओं का नियन्त्रक है।

तीन कारणों के बिना सृष्टि का कोई नियम नहीं चल सकता। जैसे घड़ा बनाने में उपादान कारण मिट्टी, साधारण कारण चाक वगैरह और मुख्य निमित्त कारण घड़ा बनानेवाला कुम्हार होता।

ईश्वर ने यह सृष्टि प्रकृति और परमाणुओं को व्यवस्थित करके बनाई। जीवों को कर्म करने, कर्मानुसार फल देने का अवसर एवं ज्ञान देकर सृष्टि को चेतनायुक्त किया और स्वयं बनानेवाला जगदीश्वर इन सबका निर्माता हुआ। □

विज्ञान

सृष्टि के 'ऋत' से अर्थात् नियमानुसार चलने का एक सबसे बड़ा उदाहरण विज्ञान है। विज्ञान जिस प्रकार निर्धारित फार्मूलों को अपनाकर अपनी खोज करता रहता है और फार्मूलों पर उनका अटूट विश्वास होना ही ईश्वर की सृष्टि और उसके रचयिता के प्रति गहरा विश्वास माना जा सकता है। धर्म और ईश्वर के साथ चमत्कारी बातों को जोड़ देने से तथाकथित धर्म के प्रति वैज्ञानिकों का उदासीन बनना स्वाभाविक था।

आर्यसमाज विज्ञान को धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुकूल मानता है। सच्चा धर्म और विज्ञान दोनों साथ-साथ मिलकर चलते हैं। वे एक-दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। □

सूर्यग्रहण-चन्द्रग्रहण

समस्त विश्व को नियमबद्ध संचालित करनेवाले जगदीश्वर ने जगत् की अनुपम व्यवस्था के साथ-साथ ही मानव को ज्ञान देने की अनुपम कृपा की है। दिन और रात का विभाजन, प्रति-दिन सूर्योदय और सूर्यास्त होने का बदलता हुआ समय, ऋतुओं का क्रम-क्रम से आना इन सबका हिसाब-किताब मानव ने अपने ज्ञान-भण्डार में रख छोड़ा है। आकाश में करोड़ों मीलों दूर चमकते तारों की गतिविधि का रिकार्ड खगोलशास्त्रियों के पास है। सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी की गति का पक्का हिसाब वैज्ञा-निकों ने बनाकर रखा है। इस प्रकार के ये प्राकृतिक नियम

इतने अटल और शाश्वत हैं कि वैज्ञानिकों और खगोल विद्या के विशेषज्ञों को अपने परीक्षण करने में कहीं कोई हिचक नहीं होती, कोई धोखा नहीं होता। परीक्षण में उनकी गलती रह सकती है, पर नक्षत्रों आदि की गतिक्रम द्वारा कोई व्यवधान नहीं होता।

सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण भी इसी अटल नियम के द्योतक हैं। सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी इन तीनों की अपनी-अपनी गति में कभी जब सूर्य और पृथ्वी के बीच में चन्द्रमा आता है तब सूर्य-ग्रहण और सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी आ जाने पर चन्द्रग्रहण होता है। यह सब नियमित और अटल है। सैकड़ों वर्षों के आगे-पीछे के ग्रहण-काल गणित से निकाले जा सकते हैं।

हमारे ऋषि-मुनियों ने इस गणित ज्योतिष को बहुत प्रकाशित किया था। कालान्तर में इसी सत्यविद्या को स्वार्थी लोगों ने ठगने का साधन बना डाला। ग्रहण के नाम पर ग्रहों के आपस में लड़ने-झगड़ने, ग्रहों के व्यक्ति-विशेष पर कुपित होने के कल्पित ग्रन्थ बना डाले। भोली व धर्मभीरू जनता से सूर्य भगवान् को अथवा चन्द्र देवता को बचाने और उन्हें प्रसन्न करने के नाम पर दान प्राप्त करने तथा समस्त कार्य छोड़कर कीर्तन करने के मेले लगाने लगे। इस प्रकार से ठगी और धोखे के रूप में किये जानेवाले दान व कीर्तन को आर्यसमाज धार्मिक कृत्य नहीं मानता।

सूर्य-चन्द्र ग्रहण मानव के दैनिक जीवन के लिये कोई बाधा अथवा अनहोनी घटना नहीं है। सृष्टि की सामान्य और अनिवार्य प्रक्रिया है। इसको निमित्त बनाकर किया गया कोई भी कर्मकाण्ड व्यर्थ और अनर्थक है। □

सृष्टि और युग

एक सृष्टि की आयु चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष है। इतने वर्षों बाद प्रलय होता है। प्रलय के बाद फिर सृष्टि बनती है। प्रलय की अवधि भी उतनी ही है, जितनी सृष्टि की, इसीलिए सृष्टि के समय को ब्राह्मदिन और प्रलय को ब्राह्मरात्रि कहा गया है। तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष की एक 'चतुर्युगी' होती है। एक ब्राह्मदिन में एक हजार चतुर्युगी आ जाती हैं। इन चतुर्युगों के नाम हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। इन चारों युगों को मिला कर एक 'चतुर्युगी' कहलाती है। 'कलियुग' काल विभाग का एक नाम है। अतः इन युगों को श्रेष्ठ-निकृष्ट नहीं मानना चाहिए। युगों के समय में न्यूनाधिकता है। □

स्वर्ग-नरक

इन नामोंवाले कोई विशेष स्थान नहीं हैं। मानव के जीवन में सुख और दुःख जो आते रहते हैं, उसी के अन्तर्गत सुख-विशेष का नाम 'स्वर्ग' और दुःख-विशेष 'नरक' कहा जाता है। □

वर्ण-व्यवस्था

मनुष्यों की योग्यता एवं पुरुषार्थ के अनुरूप वर्णव्यवस्था का निर्धारण हमारे सामाजिक जीवन का बहुत बड़ा वरदान था।

कालान्तर में यही वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर मानकर सामाजिक जीवन के लिए अभिशाप बन गई।

आर्यसमाज पुनः इस वर्ण-व्यवस्था को गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार मानने का प्रचार करता है। आर्यसमाज के प्रचार से बहुत से व्यक्ति अपने गुणों के आधार पर वर्णस्थ हुए भी हैं, किन्तु यह रोग इतना घर कर गया है कि जब तक शिक्षा क्षेत्र में आमूल सुधार न आयेगा, तब तक यह कुप्रथा लोगों को जकड़े रहेगी।

जन्मगत जाति-प्रथा के आधार पर ऊँच-नीच और छूत-छात की मान्यता ने ही भारतीय समाज व भारत राष्ट्र को खण्ड-खण्ड कर डाला है और यह परम कल्याणकारिणी वर्ण-व्यवस्था, मरण-व्यवस्था बन कर रह गई है। दुर्भाग्य यह है कि स्वतन्त्र भारत में चुनावप्रथा, आरक्षण तथा नौकरी के माध्यम से भी पारस्परिक भेद-भाव और जातिवाद की जड़ें और भी गहरी हुई हैं। वैदिक वर्ण-व्यवस्था ही इस जटिल समस्या का एकमात्र निदान है। योग्यता व पात्रता के आधार पर ही राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है, इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा राष्ट्र के पतन का आधार बन जाती है।

□

आश्रम-व्यवस्था

वैदिक संस्कृति में मानव के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नर और नारी को शारीरिक, आत्मिक व सामाजिक उन्नति करना आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मानव के जीवन को चार भागों में बांटकर उसके चार पड़ाव निश्चित किये

गये हैं। इन पड़ावों या आश्रमों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम दिया गया है, जिनकी संक्षिप्त जानकारी यों है—

ब्रह्मचर्य आश्रम—मनुष्य की चार अवस्था बताई गई हैं। एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी सम्पूर्णता, और चौथी किंचित्परिहाणि। मनुष्य की १६ वर्ष से आरम्भ होकर २५ वर्ष तक की वृद्धि की अवस्था है। जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष की भाँति अथवा डंडे से फूटे घड़े की भाँति अपना सर्वस्व नाश करके पछतायेगा, इसलिए २५ वर्ष से कम पुरुष का और १६ वर्ष से कम स्त्री का विवाह कदापि नहीं होना चाहिए। वस्तुतः ब्रह्मचर्यकाल तो जीवन के प्रभात से ही आरम्भ हो जाता है। ब्रह्मचर्यकाल की इस अवस्था में तीन आचार्य मानव के जीवन का निर्माण करते हैं। जैसा लिखा है—मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेदः। बालक को ५ वर्ष की आयु तक माता, ५ से ८ वर्ष तक पिता और ८ वर्ष के पश्चात् आचार्य द्वारा शिक्षा मिलनी चाहिए। ऋषि ने यहाँ तक लिखा है कि जातिनियम और राजनियम में कि ५ वर्ष अथवा ८ वर्ष के बच्चों को पढ़ने के लिए पाठशाला में अवश्य भेजा जावे। जो कोई नहीं भेजें, वे अभिभावक दण्डनीय हों। लड़के और लड़कियों की पाठशालायें अलग-अलग होनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य आश्रम बालकों के शरीर, बल, बुद्धि और विद्या वृद्धि की योजना है। शिक्षा-दीक्षा का यही काल है। संसार के दूसरे झंझटों से दूर रहकर बालक को अपना भविष्य बनाने में लगे रहने का यह एक तपस्वी जीवन होता है। सम्पूर्ण जीवन सांसारिक

उन्नति में पुरुषार्थी रहने की यह आश्रम आधारशिला है। इसे हम मानव के जीवन की आधारशिला भी कह सकते हैं। आधारशिला की मजबूती वीर्यवान् बनने से होती है। केवल विवाह नहीं करना ही ब्रह्मचर्य आश्रम निभाना नहीं है। जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया उसका जीवन नष्ट हो गया, इस प्रकार की चेतावनी पर सदैव ध्यान रखना आवश्यक है। खेद है कि आज की शिक्षा और वातावरण वीर्य-रक्षा की बातों का मखौल उड़ाने लगे हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम के समय की मर्यादा पुरुष की न्यूनतम २५ वर्ष अधिकतम ४८ वर्ष है। स्त्री की अब सरकारी कानून से न्यूनतम १८ वर्ष और शास्त्राज्ञा से अधिकतम २४ वर्ष है। कोई पुरुष और स्त्री आजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प लेते हों तो किसी को कोई ऐतराज नहीं। किन्तु यौवन काल के वेग को रोक पाना आसान काम नहीं है।

गृहस्थ आश्रम—नर और नारी का प्रणय-सूत्र में आबद्ध होकर सांसारिक क्षेत्र में आना गृहस्थ आश्रम का आरम्भ है। गृहस्थ में भी ब्रह्मचर्यपालन की महिमा को भुला नहीं देना है। ऋषियों का आदेश है कि जो गृहस्थ एक पत्नीव्रत और ऋतुगामी है, वह भी ब्रह्मचारी है। गृहस्थी के लिए एक चेतावनी सत्यार्थप्रकाश समु० ४ में है कि "स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिए कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को परस्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुष के सङ्ग में खोते हैं वे महामूर्ख होते हैं। क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी खेत वा वाटिका के विना अन्यत्र बीज नहीं बोते, जबकि

साधारण बीज और मूर्ख का ऐसा वर्तमान है तो जो सर्वोत्तम मनुष्य शरीर रूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है, वह महामूर्ख कहाता है क्योंकि उनका फल उसको नहीं मिलता।"

आजकल परिवार नियोजन के उद्देश्य से नये-नये साधन निकालने पड़ते हैं। उन सबकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, यदि गृहस्थी लोग ऋषि के उपरोक्त उपदेश को अपना लेवें। रज-वीर्य का नाश बहुत बड़ा अत्याचार है। गृहस्थ आश्रम बहुत बड़ी जिम्मेदारी भरा आश्रम है। सन्तान पैदा करना, उनका रक्षण और शिक्षण करके योग्य नागरिक बनाना, अपने पितृ जनों का भरण-पोषण करना, देश, धर्म, जाति की उन्नति करना गृहस्थियों का विशेष दायित्व है। दूसरे आश्रमवासी कहीं से भिक्षा के भी अधिकारी हो सकते हैं, किन्तु गृहस्थी को मांग कर खाना पाप है। पञ्चमहायज्ञों का निर्वाह गृहस्थ को ही करना होता है। माता-पिता ने जो कुल की अच्छी मर्यादायें चालू रखी हैं, उन मर्यादाओं को बनाये रखना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। मनु महाराज ने गृहाश्रम को श्रेष्ठाश्रम की संज्ञा दी है क्योंकि जिस आश्रम के सहारे बाकी तीन आश्रमों का पालन होता है, वही आश्रम सब से बड़ा है। जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार ज्येष्ठ और गृहाश्रम है। गृहाश्रम यदि न हो तो सन्तानोत्पत्ति के अभाव में ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासआश्रम कहाँ से होते?

गृहस्थी की सार्थकता तभी है कि वह अपने कुल की उन्नति करके पुत्र-पुत्रियों को योग्य बनाकर अपने जीवन को आध्यात्मिक और सामाजिक बनाने हेतु घर के कार्यों से स्वयमेव छुट्टी ले ले। मृत्यु के आने की राह न देखे।

वानप्रस्थ आश्रम—ब्रह्मचारी शब्द के साथ गुरुकुल याद ग्रा जाता है, पर गुरुकुलों की वह परिपाटी योग्यता ग्रौर ग्रस्तित्व न रहने पर भी ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य ग्राश्रम निभाना जीवन के लिए ग्रावश्यक है । इसी प्रकार वानप्रस्थी के साथ वनों में रहने की परिपाटी याद ग्रा जाती है । उस प्रकार के वन व ग्राश्रम नहीं होने पर भी वानप्रस्थ ग्राश्रम के महत्त्व ग्रौर उनकी ग्रावश्यकता में कोई कमी नहीं है । वानप्रस्थी को गृहस्थी से विश्राम लेकर एक ग्रौर सामाजिक दायित्व निभाने के लिए ग्रगली मञ्जिल के लिए जाना ग्रब भी समय की मांग है ।

वानप्रस्थी कहाँ पर रहे, किस प्रकार जीवन निर्वाह करे इस प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों का हल ढूँढना जरूरी है । वानप्रस्थ में जाने की ग्रायु का निश्चय सब पर एक समान लागू नहीं हो सकता । स्वामी दयानन्द ने मनुस्मृति के ग्रनुसार ग्रायु का मापदण्ड यह दिया है कि जब लड़के के सन्तान हो जाय । श्वेत केश ग्रौर शरीर का चमड़ा ढीला होने लगे तब जङ्गल की राह ले लें । ग्रपनी पत्नी को साथ ले जायें ग्रथवा पुत्रों के साथ छोड़ जायें । वानप्रस्थी ग्रपनी योगसाधना, स्वाध्याय, सत्सङ्ग ग्रादि कर्म बड़ी निष्ठा ग्रौर एकाग्रता से करें । वानप्रस्थ ग्राश्रम की मर्यादा के पालन से सामाजिक लाभ की भी ग्रधिक सम्भावना है, जैसे—

- ☐ परिवार में पुत्रों के योग्य हो जाने पर पुत्र-वधुग्रों के द्वारा घर की व्यवस्था सम्भाल लेने पर एक ऐसी स्वाभाविक ग्रावश्यकता होने लगती है कि सब पुत्रों व पुत्र-वधुग्रों के कन्धों पर गृहस्थी का बोझ पड़ जाना

चाहिए। बोझ नहीं डालने से स्वावलम्बी बनने की भावना और पूरी योग्यता प्रदर्शित करने का अवसर बच्चों को नहीं मिल सकेगा। इससे पहले कि पुत्र-पौत्रादि दैनन्दिन व्यवहारों में अपने बुजुर्गों की उपेक्षा करने लगें उनसे पहले ही विराम लेना अधिक उपयुक्त होता है। इससे परस्पर के प्रेम और आकर्षण का सम्बन्ध बना रहता है। बहुत से परिवारों में देखने में आता है कि बूढ़े और बुढ़िया मरते दम तक घर के कोष की चाबी अपने साथ लटकाये फिरते हैं। उनको अपने उत्तराधिकारियों पर सन्देह बना रहता है कि कहीं कुछ बिगड़ न जाय। सोचना यह चाहिए "पूत कपूत तो धन क्यों सञ्चे और पूत सपूत तो धन क्यों सञ्चे।"

☐ २५-३० वर्षों तक जिसने गृहस्थी निभाई है, अपने जीवन में जिसने उतार-चढ़ाव, सफलता-असफलता देखी है, उसके अनुभवों का लाभ समाज के दूसरे लोगों को भी मिले, वह तभी हो सकता है, जब वह व्यक्ति किसी एक परिवार का न रहकर पूरे समाज का बन जावे।

☐ देश की परोपकारी संस्थायें अनुभवी व समयदानी लोगों के अभाव में बेकार हो रही हैं। वानप्रस्थी इस प्रकार की सेवायें दे सकते हैं।

☐ धर्म का प्रचार, सत्सङ्गों के आयोजन में पाखण्ड और कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने के काम वानप्रस्थी कर सकते हैं।

आर्यसमाज ऐसे कर्त्तव्यपरायण मिशनरी भावनावाले वानप्रस्थियों से युक्त वानप्रस्थ आश्रम की आवश्यकता बहुत अधिक अनुभव करता है।

संन्यास आश्रम—सामान्यतया तो जीवन के चौथे हिस्से में मनुष्य क्षमता-शून्य होने पर स्वयं ही संन्यासी जैसा बन जाता है, किन्तु शब्द के सही अर्थों में संन्यासी बनना प्रत्येक के वश की बात नहीं। संन्यासी बनने में दो विशेषतायें होनी चाहिए। एक यह कि संन्यासी बनने का अधिकारी ब्राह्मण ही है, इसका आशय है कि क्षत्रियोचित और वैश्योचित गुणों का परित्याग करके ब्राह्मणोचित गुणों से संन्यास धर्म की दीक्षा मिल सकती है।

दूसरा यह है कि पूर्ण वैराग्य होने पर ही संन्यास लेना चाहिए। संन्यासी को पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाएं प्रभावित नहीं करनी चाहिए। पूर्ण वैराग्य की स्थिति ब्रह्मचर्य आश्रम में होने से ब्रह्मचारी भी संन्यासी बन सकता है। गृहस्थी भी सीधे संन्यास आश्रम में जा सकता है, यदि पूर्ण वैराग्य हो गया हो तो।

आर्यसमाज के संन्यासी सिर्फ अपनी आत्मोन्नति के लिए ही नहीं होते बल्कि संसार के परोपकार की भावना लेकर बनते हैं। संन्यासी की गरिमा सम्राट् से भी बढ़कर है। ब्राह्मणों आदि उपदेशकों पर नियन्ता संन्यासी है। पाखण्ड और अज्ञान के विरोध में आर्य संन्यासी अपनी पूरी शक्ति से लगे रहना चाहता है। वर्तमान युग में पुरुषार्थी संन्यासियों की बहुत अधिक आवश्यकता है। खेद है कि संन्यास धर्म और संन्यासी वेशभूषा को नकली साधुओं ने बहुत बदनाम किया है। घर पर आये हुए संन्यासी

का सत्कार करते हुए भी कभी-कभी उनकी वास्तविकता पर सन्देह होने लगता है।

आश्रमव्यवस्था आज भी उतनी ही उपयोगी है और हो सकती है, जितनी प्राचीनकाल में रही है। □

त्यौहार

जीवन में उल्लास और सरसता लाने में त्यौहार बड़े उपयोगी हैं। आर्यसमाज त्यौहारों को मनाने में सम्मिलित रहता है और उनके महत्त्व को स्वीकार करता है। पर इनकी मर्यादा सुनिश्चित है—

□ एक ईश्वर को छोड़कर कोई जड़ पूजा नहीं।
□ मनोरञ्जन के नाम पर कोई अश्लीलता नहीं।
□ मनौती के नाम पर कोई अन्धविश्वास नहीं।
□ प्राप्ति के नाम पर अनुचित क्रियाएँ नहीं।

आर्यसमाज द्वारा पर्वों को मनाने की प्रेरणा लेखों द्वारा दी जाती रहती है। उनकी विधियों का भी निर्देशन किया जाता है। □

खान-पान

आर्यसमाज के संस्थापक को जहाँ पाखण्डियों और विभिन्न मतमतान्तरों के वेदविरुद्ध विचारों से टक्कर लेनी पड़ी थी वहाँ एक टक्कर और भी लेनी पड़ी—वह थी "चौके चूल्हेवाला धर्म"।

हिन्दुओं का धर्म सिमटकर चौके-चूल्हे के रखरखाव में आ गया था। पूना प्रवचन में ऋषि कहते हैं—अब घास का तिनका तोड़ने में देर लगती है, परन्तु हमारे धर्म टूटने में देर नहीं लगती है। चोटी में गांठ न देंगे तो धर्म गया, अंगरखा लम्बा पहना गया तो धर्म गया। खाने-पीने में तो बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा हो गया है। इस खाने-पीने की संकीर्णता ने तो वीरों को कायर कर दिया है और चौका लगाकर बैठे-बैठे अपनी सारी बड़ाई का चौका लग गया। प्राचीन समय में सब क्षत्रिय राजा और ब्राह्मण ऋषि आदि एक ही सभा में भोजन किया करते थे। ब्राह्मण लोग छूतछात का ढोंग मचाते हैं, परन्तु वह ढोंग हींग, शक्कर आदि पदार्थ सेवन करते समय कहाँ जाता है। यदि यह कहो कि केवल दुष्ट का ही दोष होता है तो जो वस्तु दिखलाई न दे क्या उसका दोष नहीं है? क्या भूल से यदि भाँग खा ली जावे तो नशा नहीं करेगी?

ऋषि ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में खाने-पीने के कारणों और परिणामों पर बहुत अधिक प्रकाश डाला है। एक जगह वे लिखते हैं "पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम उनको विद्या पढ़ावेंगे और देशदेशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे तो वे बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड जाल में न फँसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जायेगी। इसीलिए भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें। हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि मद्यमांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें।"

खान-पान पर ऋषि द्वारा निर्दिष्ट दिशा का संक्षेप निम्न प्रकार है—

- ☐ भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार है, एक धर्मशास्त्रोक्त दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त ।
- ☐ हिंसा, चोरी और विश्वासघात छलकपट आदि से प्राप्त भोजन अभक्ष्य है । अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त भोजन भक्ष्य है ।
- ☐ जिन पदार्थों से स्वास्थ्य-लाभ, रोगों का नाश, बुद्धि बल, पराक्रम में वृद्धि होती है और आयुवृद्धि होती है जैसे तण्डुल, गोधूम, फल, मूल, कन्द, दूध, घी, मिष्टादि का यथायोग्य सेवन यथोचित समय पर "भक्ष्य" है ।
- ☐ जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध विकार करनेवाले हैं वे सब "अभक्ष्य" हैं और जो जिसके लिए विहित स्वास्थ्य के अनुकूल है वह "भक्ष्य" है ।
- ☐ जो-जो बुद्धि का नाश करनेवाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें जैसे मद्य, गांजा, भाँग, अफीम आदि ।
- ☐ मद्यमांसाहारी, म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उनके हाथ का भी न खावें ।
- ☐ न किसी को अपना जूठा पदार्थ दें और न किसी के भोजन के बीच आप खावें, न अधिक भोजन करें और न भोजन किये पश्चात् हाथ-मुख धोये बिना कहीं इधर-उधर जायें ।
- ☐ जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावें तो सब आर्यों को साथ खाने में कुछ भी हानि नहीं । क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री-पुरुष रसोई बनाने का चौका

लगाने, बर्तन-भांडे मांजने श्रादि बखेड़े में पड़े रहें तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि नहीं हो पायेगी ।

- ☐ मद्यमांसाहारियों के हाथ के खाने में श्रार्यों को भी मद्य-मांसादि खाने-पीने का श्रपराध पीछे लग पड़ता है, किन्तु श्रार्यों का श्रापस में एक भोजन होने में दोष नहीं श्राता ।

- ☐ मक्खियों से प्राप्त मधु कहने मात्र का उच्छिष्ट है किन्तु वह बहुत सी श्रौषधियों का सार होने से ग्राह्य है ।

महर्षि ने एक छोटी पुस्तक 'गोकरुणानिधि' में जहां गाय श्रादि पशुश्रों की उपयोगिता श्रौर उनकी रक्षा पर बल दिया है उसी पुस्तक में मांसाहार श्रौर मद्यपान के विरोध में खुलकर चर्चा की है । मद्यपान पर उनके विचार हैं "मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर श्रकर्तव्य कर लेता है श्रौर कर्तव्य को छोड़ देता है । न्याय का श्रन्याय श्रौर श्रन्याय का न्याय श्रादि विपरीत कर्म करता है । मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है । मांसाहारी भी श्रवश्य हो जाता है । श्रात्मा में विकार उत्पन्न होते हैं । मद्य पीनेवाला विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर दोषों में फसकर श्रपने धर्म, श्रर्थ, काम श्रौर मोक्ष के फल को छोड़कर पशुवत् श्राहार, निद्रा, भय, मैथुन श्रादि कर्मों में प्रवृत्त होकर मनुष्य जन्म को व्यर्थ कर देता है । इसलिए नशा श्रादि मद्यकारक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए । भाँग, तमाखू श्रादि पदार्थ भी मादक हैं, इससे बुद्धि का नाश होकर प्रमाद, श्रालस्य श्रौर

हिंसक प्रवृत्ति हो जाती है। अतः मद्यपान के समान यह सब पदार्थ त्याज्य हैं।"

खान-पान के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षा आर्यसमाज के पक्ष को पूरी तरह प्रस्तुत करती है। □

शुद्धि

हिन्दू जाति की अधोगति महाभारत के युद्ध के बाद से होती आ रही है। सबको आर्य बनाने की वह क्षमता भारत के गुप्तकालीन साम्राज्य तक भी बनी रही। तभी तो शक, हूण आदि जो भी विदेशी आये वह सब आर्यजाति के अङ्ग बन गये। कालान्तर में दूसरों को अपने में समा लेने की क्षमता समाप्त करके कहा जाने लगा कि गधी कभी गाय नहीं बन सकती, अर्थात् मुसलमान-ईसाई कभी हिन्दू नहीं बन सकता।

मुसलमानों ने इस युक्ति का खूब लाभ उठाया। गधा से गाय न बननेवाले दिमागों ने गाय को गधा बनते अपनी आँखों से देखा ही नहीं बल्कि अपने निरपराध भोले-भाले आर्यों की सन्तान को जिन्हें गाय जैसा सरल कह सकते हैं, उन गायों के अनाथ बच्चों, अबला विधवाओं को गधा बनने के लिए बाध्य करके अपने अङ्ग से काटते रहे। मुसलमानों के साथ-साथ ईसाइयों ने इस जाति के अस्तित्व को खूब लूटा। हिन्दू जाति से निकल जाने के सैकड़ों द्वार थे, किन्तु घुसने के लिए कहीं पर कोई छेद भी नहीं था।

ऐसी हालत में आर्यसमाज ने अपने कार्यक्रम में शुद्धि अभियान को हाथ में लिया। लुटेरों के सामने आर्यसमाज एक दीवार की भाँति बन गया। निकल जाने के दरवाजे बहुत कम हो गये और वापस ससम्मान आने के दरवाजे समाज ने निर्माण कर दिये हैं। प्रसन्नता का विषय है कि आर्यसमाज के इस अभियान को अब प्रत्येक विचारशील ने मान्यता दे दी है। □

अन्त्येष्टि

आर्यसमाज अन्त्येष्टि को मनुष्य के अन्तिम संस्कार के रूप में मानता है। इसी को 'नरमेध', 'पुरुषमेध' कहते हैं। इसके बाद शरीर के लिये कोई संस्कार नहीं है। मृतक शरीर को अच्छी प्रकार नहलाकर, स्वच्छ वस्त्र लपेटकर, श्मशानघाट में पुष्कल घी और सामग्री डालकर वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ जलाना ही इसका अन्तिम संस्कार है। मृतक शरीर चाहे छोटे बालक का हो अथवा संन्यासी का, सबकी दहन-क्रिया होनी चाहिये। जमीन में गाड़ना अथवा नदी में बहाना दूषित कार्य है। इससे हवा, जल, पृथ्वी सभी गन्दे होते हैं। अग्नि में यदि घी सामग्री से जलाया जाय तब दुर्गन्ध अधिक नहीं होती। यदि बिना घी सामग्री के भी मृतक को जलाना पड़े तो भी गाड़ने से अच्छा है।

मृतक के घर को साफ करके हवन करना चाहिये ताकि अशुद्ध वायु और वातावरण शुद्ध हो सके। मृतक की अस्थियों को श्मशानघाट से हटाकर कहीं खेत आदि में डाल देना या कहीं ठिकाने लगा देना आवश्यक है। इन अस्थियों को डालने हेतु गङ्गा

आदि नदियों तक पहुँचाना श्रम और धन का अपव्यय करना है। गङ्गा जल भी दूषित हो जाता है।

मृतक के नाम पर दशगात्र, वैतरणीपार के लिये दान आदि प्रथाओं को आर्यसमाज नहीं मानता। मृत्यु के बाद मृतक के प्रति किया गया कोई कर्मकाण्ड मृतआत्मा को नहीं पहुँच सकता। श्मशानघाट में डाली गई आहुतियों के साथ जो वेदमन्त्र पढ़े जाते हैं उनका आशय है—ईश्वर की व्यवस्था को स्वीकार करते हुए प्रार्थना करना कि दिवङ्गत आत्मा यदि मोक्ष का अधिकारी न भी हो तो उसका अगला जन्म अच्छे वातावरण में हो।

मृतक के परिवार का कर्तव्य बनता है कि मृतक के शुभ कार्यों और शुभ आचरणों का अनुशीलन करें अथवा यदि सम्पन्न परिवार हो तो वेदप्रचार, अनाथपालन आदि सेवाओं को बढ़ायें। □

आर्यसमाजी को नहीं आर्यसमाज को समझिये

आजकल के आर्यसमाजियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

निर्गुण आर्यसमाजी

जिनमें केवल खण्डनात्मक प्रवृत्ति हो [जैसे मूर्तिपूजा, श्राद्ध-तर्पण, काशी आदि तीर्थ, अपशकुन आदि अन्धविश्वासों का विरोध करना] और जिसके जीवन में मण्डनात्मक पक्ष का

अभाव हो। स्वयं के जीवन में साधना के अभाव के कारण ऐसे लोग जीवन में श्रद्धापात्र नहीं बन पाते।

सगुण आर्यसमाजी

जो विधेयात्मक कार्यों में रुचि रखते हों। किसी के खण्डन से मतलब नहीं, पर अपना जीवन यज्ञमय बनाकर रखते हों। जो कर्मकाण्ड व संस्कार आदि श्रद्धापूर्वक वैदिक रीति से करते हों। ऐसे लोग जनजीवन में श्रद्धापात्र हैं, किन्तु सेवा के कारण आर्यसमाज का विस्तार नहीं कर पाते, अतः उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत नहीं हो पाने से जन-जन के हित में उपयोगी नहीं हो पाते।

सगुण-निर्गुण आर्यसमाजी

जो अपने आप में ठीक हों, फिर दूसरों को ठीक करने की चेष्टा करते हों, जिनका जीवन विधेयात्मक, साधनामय हो, साथ ही निषेधात्मक कार्यों का विरोध ·प्रीतिपूर्वक और अज्ञान-नाश के रूप में करके महान् समाज सेवा भी करते हों, वे आर्यसमाज के सही प्रचारक हैं।

आर्यसमाज को जानने के लिए स्वाध्याय अथवा उत्तम साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, तभी आर्यसमाज की वास्तविक पहचान हो सकती है। केवल किसी आर्यसमाज को चन्दा देनेवाला ही अपने को आर्य घोषित करे तो उससे भ्रान्तियाँ व भ्रम का अकारण सृजन होता है।

यदा-कदा सुनने में आता है कि अमुक आर्यसमाजी ऐसा करता है, अथवा ऐसा कहता है क्या ऐसा ही आर्यसमाज है? इस

प्रकार के उदाहरणों से लोगों में बड़ी भ्रान्ति होती है । आर्यसमाज एक कर्मप्रधान, गुणानुशंसी संस्था का नाम है । केवल मात्र आर्य-समाजी कहलाने अथवा आर्यसमाज की कुछ बातों को मान लेने पर आर्यसमाज के आदेशों का प्रवक्ता नहीं बन सकता, अलबत्ता कोई सिद्धान्त आर्यसमाज के माननेवाले को आर्यसमाजी कहलाने से अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता । आर्यसमाज का उद्देश्य है कि वैदिक धर्म की शिक्षा सब देशदेशान्तरों और मतमतान्तरों में फैल जाय, भले ही वे आर्यसमाजी न कहलावें ।

वर्तमान काल में आर्यसमाज के लेबल से लोग ठगे भी जाते हैं । बहुत से सही आर्यसमाजी सम्मान को प्राप्त नहीं हो पाते । यह सब ऐसा ही है जैसा आज का संन्यासी वर्ग । कहीं धूर्त संन्यासी मौज उड़ाते हैं और सच्चे साधु भूखे मरते हैं । अतः आर्यसमाजी की पहचान मन, वचन, कर्म में एकरूपता होने से होती है । □

नमस्ते

जैसे "आर्य" हमारा सनातन नाम है, वैसे ही "नमस्ते" हमारा सनातन अभिवादन है । आर्यसमाज ने "आर्य" नाम हमें पुनः स्मरण कराया वैसे ही अभिवादन के लिए आर्यसमाज "नमस्ते" का प्रयोग और प्रचार करता आ रहा है । "नमस्ते" का अर्थ है मैं आपको नमन करता हूँ अथवा आपका आदर करता हूँ । व्याकरण की दृष्टि से भी यह एक पूर्ण वाक्य है । जो सर्वथा शुद्ध और युक्तियुक्त है । पवित्र वेदमन्त्रों में ईश्वर की

स्तुति के प्रमाण में नमस्ते शब्द बहुत बार आया है। ब्राह्मणों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों में भी सर्वत्र अभिवादन के प्रसंग में "नमस्ते" का ही प्रयोग हुआ है। यह एक ऐसा अभिवादन है, जो बड़े छोटों को, छोटे बड़ों को एवं बराबरवाले आपस में बिना किसी हिचक कर सकते हैं। नमस्ते का प्रत्युत्तर नमस्ते ही होता है, अतः बड़ी सरलता से यह अभिवादन कहीं भी किसी के द्वारा सम्भव है। नमस्ते उच्चारण के समय दोनों हाथ जुड़े हुए, सिर कुछ झुका हुआ, हृदय के साथ हाथ की भुजायें स्पर्श करती हुई हों। यह ऐसी स्थिति दर्शाती है कि अभिवादनकर्ता अपने मस्तिष्क के समस्त ज्ञान, भुजाओं की सम्पूर्ण क्षमता और हृदय के सम्पूर्ण प्यार को प्रस्तुत कर रहा है और अभिवादन स्वीकार करनेवाला भी इसी भावना से स्वीकार कर रहा है। "नमस्ते" इस शब्द में ही बड़ों के लिए आदर, छोटों के लिए प्यार, और दुष्टों के लिए ताड़ना का भाव भी निहित है। इस प्रकार नमस्ते, सनातन, सर्वोत्तम, सरल और पूर्णतम अभिवादन है। आइये, अब कुछ प्रचलित अभिवादनों पर भी विचार करें।

१. जय रामजी की—जैगोपाल जी की आदि जहाँ महापुरुषों की जय के उद्घोष मात्र हैं, वहाँ ये तथाकथित अभिवादन अपने-अपने मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों के घरों के साथ जुड़े हुए हैं। जैनियों का "जयजिनेन्द्र", सिखों का "सत् श्री अकाल" सभी इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के अभिवादनों का प्रत्युत्तर देने में दूसरे मतवालों को असुविधा भी होती

है, पर शिष्टाचारवश चलता है, फिर इनके प्रयोग में अभिवादन की मूल भावना तो प्रकट होती ही नहीं है।

२. एक और अभिवादन चला है "जयहिन्द" यह अभिवादन की जगह प्रयुक्त होता है, जबकि नेताजी सुभाष द्वारा प्रयुक्त यह एक जयघोष विशेष है। नेताजी के पूर्व यह कहाँ प्रयुक्त होता था। यही अन्य जयघोषों की कहानी है, फिर यह जयघोष भारत की सीमाओं से बंधा है। कोई भारतीय विदेशी से जयहिन्द कहे अथवा कोई भारतीय विदेश में जाकर जयहिन्द से अभिवादन करे, तब क्या बिलकुल असंगत नही लगेगा?

३. "सलाम" इस्लामी सभ्यता का अभिवादन है। अरबी शब्द है। इसका अर्थ सार्थक है, किन्तु एक तो इसके प्रयोग की पद्धति आर्य संस्कृति से मेल नहीं खाती। फिर इसमें वह गरिमा, विराटता और सार्वभौमिकता कहाँ? जो नमस्ते में निहित है।

४. पाश्चात्य के गुडमोर्निंग, गुडनून, गुडईवनिंग, गुडनाइट आदि प्रतिदिन के समय पर आधारित अभिवादन आज बहुत प्रचलित हैं। अंग्रेजी में वार्ता करनेवालों को इस प्रकार के अभिवादन करने-सुनने की बड़ी रुचि है। शुभकामना की अभिव्यक्ति का यह प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि यह समय की सीमाओं से बँधा है। यदि भारत से कोई व्यक्ति प्रातःकाल गुडमोर्निंग के साथ अमरीका से टेलीफोन पर बात करे तो तब

अमरीकावाले को अवश्य अटपटा लगेगा, क्योंकि वह पहले दिन की रात्रि में बैठा है ।

५. आजकल युवक-युवतियों में कुछ अजीब-अजीब अभिवादन चले हैं, जिसका कोई अर्थ नहीं बनता, जैसे हैलो, हाय इत्यादि । इस प्रकार के निरर्थक शब्द भी अवश्य ही त्याज्य होने चाहिए ।

६. "प्रणाम" शब्द आर्य संस्कृति का बहुत सुन्दर अभिवादन है, किन्तु यह अभिवादन छोटों की ओर से बड़ों को किये जाने का है । प्रत्युत्तर में बड़ा अपने छोटे को—"आनन्दित रहो", "चिरञ्जीव रहो" आदि से आशीर्वाद देता है । किन्तु प्रत्येक अवस्था में इसका उपयोग उचित नहीं जान पड़ता । बिहार में अधिकतर लोग "प्रणाम" कहते हैं, जिसके प्रत्युत्तर में "प्रणाम" कहा जाता है पर बड़ों के द्वारा छोटों के लिए प्रणाम शब्द का प्रयोग उचित नहीं है ।

७. नमस्कार—यह अभिवादन अधूरा है । इससे स्पष्ट अर्थ नहीं बनता । नमः से नमस्कार बनता है । यह भाववाचक संज्ञा है । केवल संज्ञा बोल देने से कोई वाक्य नहीं बनता । जैसे हँसना क्रिया है, इसकी भाववाचक संज्ञा हँसी है । क्रिया हँसना से "हँसता हूँ", "हँसता है" आदि वाक्य बन सकते हैं, किन्तु केवल हँसी कह देने से कुछ अभिप्राय समझ में नहीं आ सकता, जब तक उसके आगे "आती है" अथवा "नहीं आती" शब्द नहीं जोड़े जावें । इसी प्रकार नमः क्रिया से

नमस्ते बन गया, जिसका अर्थ हुआ आपका आदर करता हूँ। "नमस्कार" कह देने से पता नहीं लगता कि इसका अभिप्राय "नमस्कार करता हूँ या नमस्कार नहीं करता"। अतः नमस्कार शब्द अधूरा है। पूरा बोलने के लिए कहना होगा "नमस्कार करता हूँ"।

यजुर्वेद में इस सम्बन्ध में अनेक मन्त्र हैं उनमें से निदर्शनार्थ एक मन्त्र उपस्थित करते हैं—

"नमो॑ ज्येष्ठाय॑ च कनिष्ठाय॑ च नमः॑ पूर्वजाय॑ चापरजाय॑ च नमो॑ मध्यमाय॑ चापगल्भाय॑ च नमो॑ जघन्याय च बुध्न्याय च"

यजु० १६।३२

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का पदार्थ और भावार्थ अपने भाष्य में इस प्रकार किया है :—

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग [ज्येष्ठाय] अत्यन्त वृद्धों [च] और [कनिष्ठाय] अति बालकों का [नमः] सत्कार और अन्न [च] तथा [पूर्वजाय] ज्येष्ठ भ्राता वा ब्राह्मण [च] और [अपरजाय] छोटे भाई वा नीच का [च] भी[नमः]सत्कार व अन्न [मध्यमाय] बन्धु, क्षत्रिय वा वैश्य [च] और [अपगल्भाय] ढीठपन छोड़े हुए सरल स्वभाववाले [च] इन सबका [नमः] सत्कार आदि [च] और [जघन्याय] नीच कर्म कर्त्ता शूद्र वा म्लेच्छ [च] तथा [बुध्न्याय] अन्तरिक्ष में हुए मेघ के तुल्य वर्त्तमान दाता पुरुष का [नमः] अन्नादि से सत्कार करो।

भावार्थः—परस्पर मिलते समय सत्कार करना हो तब "नमस्ते" इस वाक्य का उच्चारण करके छोटे बड़ों, बड़े छोटों, नीच उत्तमों, उत्तम नीचों और क्षत्रियादि ब्राह्मणों वा ब्राह्मणादि क्षत्रियदिकों का निरन्तर सत्कार करें। सब लोग इसी **वेदोक्त प्रमाण से सर्वत्र शिष्टाचार में इसी वाक्य का प्रयोग करके परस्पर एक दूसरे का सत्कार करने से प्रसन्न होवें ॥** □

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।। □